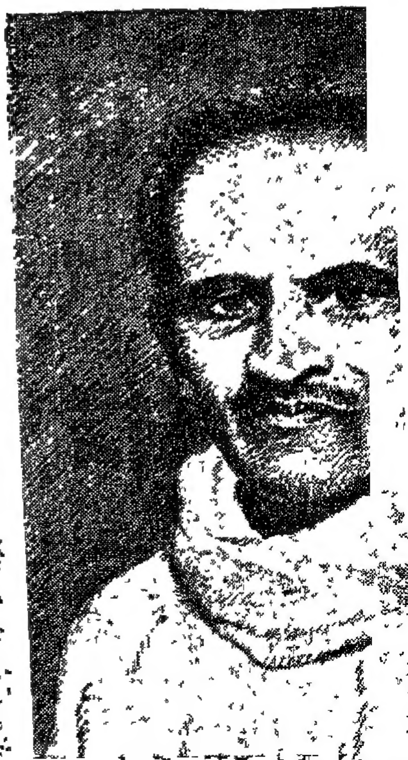
्दावनलाल वर्मा

ेव सक्सेना





वृन्दावनलाल वर्मा

अस्तर पर छपे मूर्तिकला के प्रतिरूप में राजा शुद्धोधन के दरबार का वह दृश्य है जिसमें तीन भविष्यवक्ता भगवान बुद्ध की मां — रानी माया के स्वप्न की व्याख्या कर रहे हैं। उनके नीचे बैठा है मुंशी जो व्याख्या का दस्तावेज लिख रहा है। भारत में, लेखन कला का यह संभवतः सबसे प्राचीन और चित्रलिखित अभिलेख है।

नागार्जुनकोण्डा, दूसरी सदी ई०

सौजन्य राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली

भारतीय साहित्य के निर्माता

वृन्दावनलाल वर्मा

लेखक
राजीव सक्सेना

अनुवादक
जगदीश



साहित्य अकादेमी

Vrindavanlal Verma Hindi translation by J
Rajeev Saxena's monograph in English. Sahity
New Delhi (1985), Rs. 4.

प्रथम संस्करण : 1985

साहित्य अकादेमी

प्रधान कार्यालय
रवीन्द्र भवन, 35, फीरोजशाह मार्ग, नई दिल्ली 110001

क्षेत्रीय कार्यालय
ब्लाक V-बी, रवीन्द्र सरोवर स्टेडियम, कलकत्ता 700029
29, एलडाम्स रोड (द्वितीय मंजिल), तेनामपेट, मद्रास 600018
172, मुम्बई मराठी ग्रन्थ संग्रहालय मार्ग, दादर, बम्बई 400014

मूल्य
चार रुपये

मुद्रक
स्वतन्त्र भारत प्रेस,
दिल्ली 110006

विषय-सूची

1

योद्धा परिवार

वृन्दावनलाल वर्मा को अपने उपन्यास **'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई'** से विशेष प्रसिद्धि मिली। झाँसी की रानी 1857 के युद्ध से ही भारतवासियों के लिए अंग्रेजी शासन के प्रति विद्रोह का प्रतीक बनी आयी है। झाँसी और इसके आसपास, या कहें तो समूचे बुन्देलखण्ड में यदि उस काल के किसी राजसभासद् या सेनानायक का वंशज निकलता है तो इसे गर्व की बात माना जाता है।

वृन्दावनलाल वर्मा का जन्म भी मऊ रानीपुर एक ऐसे ही परिवार में 9 जनवरी 1889 को हुआ था। बुन्देलखण्ड के प्रति उनकी एक-एक भावना परिवार के इतिहास के साथ जुड़ी हुई थी। **'अपनी कहानी'** में उन्होंने बताया है कि बचपन में किस प्रकार दादी और परदादी झाँसी की रानी की कथाएँ सुनाती थीं। परदादी ने तो उन्हें देखा भी था। रानी जब ग्वालियर के निकट युद्ध में वीरगति को प्राप्त हुईं तो झाँसी के आस-पास का सारा मोरचा लड़खड़ा गया। मगर मऊ रानीपुर के योद्धाओं ने विद्रोह का ध्वज फहराये रखा। मऊ के इस युद्ध के सेनानायकों में वृन्दावनलाल वर्मा के परदादा दीवान आनन्द राव भी थे। यों थे वे 'राय', उपाधिधारी मगर रानी ने सेनानायकों के नामों में एकरूपता रखने के लिए उसे बदलकर 'राव' करा दिया था। परदादी सुनाती थीं :

> "जब मऊ में समाचार आया कि ग्वालियर में महारानी साहब का देहान्त हो गया तब लोगों ने तुम्हारे परदादा से कहा, 'रानी तो मारी गयीं, अब क्या रह गया है ?' तो उन्होंने उत्तर दिया, 'मैं तो ज़िन्दा हूँ, जब तक दम में दम है अंग्रेजों से लड़ूँगा।' अंग्रेजी सेना का एक दस्ता टीकमगढ़ से जतारा होता हुआ मऊ-दमन के लिए आ रहा था। मऊ की समीपवर्ती पहाड़ियों में तुम्हारे परदादा अंग्रेजों से जा भिड़े और गोली से मारे गये। तुम्हारे दादा कन्हैयालाल उस समय 15-16 वर्ष थे। वह भी उस लड़ाई में शामिल थे कन्हैयालाल अंग्रेजों द्वारा बन्दी बनाये

गये। उन्हें भी गोली मारी जानेवाली थी, परन्तु जाँच-पडताल के लिए कैद में डाल दिये गये। फिर तीन-चार महीने बाद जब विलायत की रानी विक्टोरिया का यह हुकुम आया कि जिनका हाथ अंग्रेजो के बाल-बच्चो के मारने मे न रहा हो, उनको छोड़ दो, तो वे छोड़ दिये गये। और, यों अपना वश चला। बेटा, अपने घर मे सिपाही हुए है। कई पूर्वज तो छत्रसाल महाराज की फौज मे थे। कई पुरखे लडाइयो मे मारे गये और घायल हुए, पर भगवान् की मरजी कि वश चलता आया है।"

परदादी के ही मुँह बालक वृन्दावन ने यह भी सुना कि कई पूर्वजों ने कवि और वैद्य के नाते भी ख्याति पायी। चाचा बिहारीलाल . थे तहसील मे अह्लमद, पर साहित्य के इतने प्रेमी कि नियम से पुस्तके खरीदा करते, भले ही वेतन से घर चलाना दूभर होता। इन्ही चाचा को देख-देखकर वृन्दावन मे छुटपन मे ही साहित्य के प्रति अनुराग जागा। पिता अयोध्याप्रसाद परिवार के प्रति समर्पित जैसे थे। उनका सारा समय गृहस्थी की देखरेख में ही बीत जाता। उनसे वृन्दावन को जो एक चीज मिली, वह थी—दृढ अनुशासन भावना।

इस प्रकार उत्तराधिकार मे प्राप्त दो गुण वृन्दावनलाल वर्मा मे बालपन से ही देखने मे आये : सघर्ष और जूझते रहने की प्रवृत्ति—जिसने शारीरिक सुस्वस्थता की ओर सचेत रखा, और उत्कट पुस्तक-प्रेम। उन्होने पारम्परिक व्यायामो का लगकर अभ्यास किया और पौष्टिक आहार की सब दिन सुविधा न रहते भी, शरीर को सदा सुस्वस्थ रखा। इस प्रवृत्ति से ही उपजी थी उनकी अदम्य आखेट-प्रियता। कन्धे पर राइफल सँभाले हुए वह बीहड़ पहाड़ियो और घने जगलो मे निर्बाध घूमा करते। उनके भीतर का यायावर उन्हे बरबस बुन्देलखण्ड के कोने-कोने लिये घूमता और कोई पेड़-पत्थर ऐसा न होता, जिससे उन्हें लगाव न हो। वह जैसे अपनी अन्तर्भावनाओ के केन्द्र, उस प्रदेश के इतिहास मे रोमास और साहसिकता के चिर-खोजी बने रहे, और प्रचुर मात्रा मे उसका दर्शन भी पा सके।

उनका पुस्तक-प्रेम स्कूल और कॉलिज लायब्रेरियो में उन्हे घण्टो तल्लीन रखता। उनके हिन्दी और अंग्रेजी साहित्यो के ज्ञान पर अध्यापकगण भी बहुधा चकित रह जाते। सामान्य बात नही होती कि कोई कसरती भी हो और अध्ययन मे भी आगे रहे। वृन्दावनलाल वर्मा ने प्रमाणित किया कि यह असम्भव नही।

अनेक अभावो और कठिनाइयों के बावजूद उन्होंने आगरा विश्वविद्यालय से बी. ए किया। प्राइवेट ट्यूशन भी करते थे, अगरचे मास मे पाँच रुपये ही मिल पाते। राजपूत प्रेस के मालिक हनुमन्त सिंह रघुवशी के कृतज्ञ रहे कि उन्होने आगरे मे ही ट्यूशन दिलवा दी। जिन कठिनाइयों के बीच वृन्दावनलाल

वर्मा ने शिक्षा-काल पूरा किया उनका आभास इतने से ही मिल सकता है कि 1916 में वकील बन जाने तक वह एक भी गरम कपड़ा नहीं बनवा सके।

विद्यार्थी काल में ही वह कई युवा लेखको और पत्रकारो के सम्पर्क में भी आये। इनमे थे हास्यलेखक **बद्रीनाथ भट्ट**, प्रमुख देशभक्त-पत्रकार **गणेशशंकर विद्यार्थी**, बहुमुखी प्रतिभा-सम्पन्न लेखक **मन्नन द्विवेदी**, कविवर **सत्यनारायण**, और **बनारसीदास चतुर्वेदी** तथा **कृष्णदत्त पालीवाल** जैसे आन्दोलनप्रिय सशक्त पत्रकार। सभी से उनके आजीवन घनिष्ठ सम्बन्ध रहे। विद्यार्थी जी ने तो कानपुर से प्रकाशित अपने पत्र **'प्रताप'** का उन्हें सवाददाता ही नियुक्त कर दिया था। बद्रीनाथ भट्ट, मन्नन द्विवेदी गजपुरी और वृन्दावनलाल वर्मा की इस 'त्रयी' का **'प्रताप'** मे एक नियमित हास्य-विनोदात्मक स्तम्भ भी रहने लगा था। शीर्षक हुआ करता **'गोलमाल-कारिणी-सभा'** और तीनों लेखको के उपनाम रहते गोलमालानन्द, गड़बड़ानन्द और गिटपिटानन्द। बहुत दिनो बाद पूना के एक पत्र 'चिन्मय जगत्' ने तीनो व्यग्यकारो का वास्तविक नाम उद्‌घाटित किया। फिर तो इस पत्र के सम्पादक भास्कर रामचन्द्र भालेराव ने स्वय आगरा जाकरा उस 'आगरे की त्रयी' के साथ मैत्री स्थापित की। नाम प्रकट हो जाने पर भी उस त्रयी के कार्य मे कोई अन्तर नहीं आया : तीनो के तीनों सामाजिक-राजनीतिक बुराइयो की निर्मम आलोचना में लगे रहे।

अगस्त 1916 मे वृन्दावनलाल वर्मा ने वकालत शुरू की और थोड़े दिनो मे झाँसी के अच्छे वकीलो मे गिने जाने लगे। राजनीति मे उनका झुकाव आरम्भ से ही उदारतावादियो की ओर था। इस पार्टी के नेता थे उस काल के प्रतिभाशाली विधिवेत्ता **सर तेजबहादुर सप्रू** और **डॉ. एम. आर जयकर** तथा दैनिक **'लीडर'** के सम्पादक अग्रणी पत्रकार **सर सी. वाई. चिन्तामणि**। निस्सन्देह इन 'लिबरल' राजनीतिज्ञो का उच्च बौद्धिक स्तर ही था, जो वर्मा जी को आकृष्ट कर सका। सर **चिन्तामणि** के साथ तो उनका एक निकट व्यक्तिगत सम्बन्ध बन गया था।

उन दिनो ब्रिटिश सरकार ने अपनी नीतियो के प्रति जनता का समर्थन जुटाने के उद्देश्य से उत्तर प्रदेश मे शान्ति सभाएँ सगठित की थीं। वृन्दावनलाल वर्मा भी झाँसी के जिला अधिकारियों द्वारा बनायी गयी सभा से सम्बद्ध थे। लेकिन उन्होने अपने इस सम्बन्ध का निरन्तर लाभ पहुँचाया देश भक्तो को, विशेषकर उग्रवादियो और क्रान्तिकारियो को। फिर भी 1952 म जब वे विधान सभा के लिए खड़े हुए तो शान्ति सभा के सम्पर्क को लेकर उन्हें 'टोड़ो' कहा गया ! कहा गया कि आजादी की लड़ाई को कुचलने मे उन्होने अग्रेजो का साथ दिया। वस्तुत उनकी सहानुभूति उग्रवादियो के साथ रही गाँधी जी के आन्दोलन मे उनकी तनिक श्रद्धा न थी।

वकील होने के नाते वर्मा जी रहन-सहन मे सहज ही 'नागर' बन सकते थे, पर उनकी आत्मा सदा सबल रही। बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक के प्रारम्भ मे, एक दिन उनके मन मे विचार आया कि झाँसी से चार किलोमीटर पर बसे बूडाग्राम मे यदि फार्मिग करे तो आय और समय की इतनी सुविधा बन सकेगी कि फिर एकचित्त होकर लेखन में लग जाये। प्रयोग असफल रहा। उल्टे देनदारी इतनी लद गयी कि कई बरस फिर वकालत में घुलना पडा।

किन्तु भीतर का कृपक बराबर जाग्रत रहा और यही बात थी कि 1924 मे जब को-ऑपरेटिव बैंकिग समितियाँ बनी तो उन्होंने इन्हें मुक्तमन से स्वागत किया। कृपक वर्ग अब इन बैंको से ऋण ले सकता था और सूदखोर पिशाच महाजनो के चगुल से त्राण पा जाता था! फिर तो उन्हे यह भी सूझा कि को-ऑपरेटिव के आधार पर फार्मिग भी की जा सकती है। और जैसा कि उनका स्वभाव था—वह अब समाजवाद के अध्ययन में लग गये। देश-विदेश की उन पुस्तकों को उन्होने छान मारा जहाँ से को-ऑपरेटिव फार्मिग के उदाहरण मिल सकते थे। जब पाँचवाँ दशक आया तब उन्हे अवसर भी मिला कि कुछ गाँवो में अपने विचारो को कार्यरूप दे। आगे चलकर इन्हीं प्रयोगों का उपयोग उन्होंने अपने उपन्यास '**अमरबेल**' मे किया। उपन्यास तो एक कल्पना लोक उपस्थित करता है, पर उसके सभी चरित्र वास्तविक जगत् के हैं।

वर्मा जी को मान-सम्मान भी पूरा मिला। आगरा विश्वविद्यालय ने उन्हे 1958 मे डी. लिट्. की मानद-उपाधि प्रदान की और 1965 मे राष्ट्रपति जी द्वारा 'पद्मभूषण' उपाधि से अलकृत किये गये। किन्तु ख्याति के शिखर तक पहुँचकर भी वे सदा विनयशील रहे। उनके चौडे-पुष्ट कन्धे और बच्चो जैसा सरल मुखडा दूर से पुकार देते कि वे कितने मिलनसार है। अपने काम के लिए उनसे कहते किसी को हिचक न होती। ना करना उन्होंने जाना न था। शायद यह भी एक कारण रहा, जो जब-तब अपना लेखन-कार्य सँभाले हुए, वह नगर से अपने घर श्यामसी भागकर चले जाते।

काम के मामले मे वह बहुत कडे थे। उनका सारा लेखन सघन कार्यक्रम के अतर्गत चला करता। अपने इतिहास विषयक उपन्यासो का आधार नवीनतम खोजो को तो बनाते ही, सम्बन्धित स्थानो की स्वयं यात्रा करते और लोगो से मिल-मिलकर तथ्यों तक पहुँचे बिना पुस्तक का प्रकाशन टलवाये रखते।

वर्मा जी ने अपना युवाकालीन उत्साह अन्तिम दिनो तक बनाये रखा सिनेमा तो वे आये दिन जाते, और प्राय रात के दूसरे शो मे। जो फिल्म देखते

उस पर अपने युवा मित्रो से बात-चर्चा भी अवश्य करते। सचमुच, उनकी वय का अन्य कोई व्यक्ति इस विषय मे उनकी बराबरी नहीं कर पाता। फ़िल्म उनकी एक दुर्बलता थी। अन्य लेखकों की नाई, उनकी भी यह साध रही कि एक-दो उपन्यास पर फिल्म बन जाती। पर उस काल के फ़िल्म जगत् से तो ऐसा और भी कहाँ अपेक्षित हो पाता।

2

दिशाबोध

वृन्दावनलाल वर्मा के चाचा बिहारीलाल अत्यधिक पुस्तक प्रेमी तो थे ही, नाटककार भी थे। स्वय नाटक देखने कही जाते तो बालक वृन्दावन को जरूर साथ ले जाते। उनके प्रभाव मे, बालक वृन्दावन अल्प वय में ही स्टेज पर नाटक आयोजित करने लगा। ये सब विशेष रूप से रामलीला ही हुआ करते। किसी तरह एक कामचलाऊ स्टेज खडा किया जाता। घर की साड़ियों के परदे और तलवार-मुकुट सब गत्ते के। विद्यार्थी-काल में **'पन्नाबाई'** और बद्रीनाथ भट्ट के **'चुगी की उम्मीदवारी'** नाटकों में उनकी अपनी भी भूमिका रही। यही लगन एक दिन उन्हे लोक नाट्य आन्दोलन मे खींच ले गयी। कई बरस वह उ. प्र लोक-नाट्य सघ और उसकी झाँसी शाखा के अध्यक्ष भी रहे।

वर्मा जी की प्रारम्भिक रचनाओ मे 1904 का **'नरान्तक बध'** नाटक और 1909 का सामाजिक उपन्यास **'अनूठे देवेश'** भी थे। दोनो एक दिन रद्दी की टोकरी की भेट हुए। स्तर मनोनुकूल नही उतरा। 1905 मे उन्होने चाचा के अधूरे नाटक **'राम बनवास'** को पूरा किया। चार अन्य नाट्य-कृतियो पर भी उस वर्ष लगे रहे। तीन को प्रकाशनार्थ इण्डियन प्रेस, प्रयाग भेजा गया, अग्रिम रॉयल्टी के पचास रुपये भी आये, पर कोई भी पुस्तकाकार प्रकाशित नहीं हुई। कई बरस बाद वर्मा जी ने पाण्डुलिपि वापस माँगी; किन्तु वहाँ उनका कोई पता तक न था।

1905 मे वर्मा जी देश मे चलते सशस्त्र क्रान्तिकारी आन्दोलन के प्रभाव मे आये। एक नाटक **'सेनापति ऊदल'** उन्होने लिखा, जिसमें आतकवादियो के हाथो शत्रुओ और देशद्रोहियो की हत्या को न्यायोचित ठहराया। लखनऊ के नवलकिशोर प्रेस से 1908 मे यह प्रकाशित हुआ, मगर इस पर तत्काल प्रतिबन्ध लग गया और पुस्तक की एक-एक प्रति जब्त कर ली गयी। यही हाल प्रेमचन्द्र के **'सोजे वतन'** का भी हुआ। एक और नाटक **'महोबा संग्राम'** भी वर्मा जी ने लिखा, जिसमें देश की स्वतन्त्रता के लिए सशस्त्र सघर्ष की महत्ता

दिखायी थी। नवलकिशोर प्रेस ने न तो इसका प्रकाशन किया न पाण्डुलिपि ही लौटायी। लेकिन उसी वर्ष उनका **'महात्मा बुद्ध का जीवनचरित'** आया। इसे कुवर हनुमन्त सिंह रघुवशी ने अपने राजपूत ऐंग्लो-ओरिएण्टल प्रेस, आगरा से प्रकाशित करवाया था।

वास्तव मे वर्मा जी का यह निर्माण-काल था। जन्म से उन्हे वैष्णव सस्कार मिले थे। उनकी अपनी अर्जना थी बुद्धिवादी दृष्टि और समाज-सुधार की प्रबल भावना। सबका परिणाम हुआ उनका आर्य समाज के प्रति अचूक आकर्षण। यो आस्थावादी वे सदा रहे। हाँ, धार्मिक रीति-रिवाजो के प्रति वे कभी सक्रिय रुचि न ले सके। उन दिनो क्या दार्शनिक धारणाएँ थी, इसका आभास उनके **'महात्मा बुद्ध'** की भूमिका के इस उद्धरण मे मिलता है :—

> "बुद्ध का तर्क बहुत सशक्त है, और ज्ञान तो अतुलनीय। बड़े से बड़े विद्वान् तक अवाक् रह जाते हैं। उन्हे जैसे सभी कुछ ज्ञात था। दया भाव मे तो कौन उन्हे छू पाता। उनकी हार्दिक कामना यही थी कि निखिल मानव का कल्याण हो। उनका एक-एक शब्द और कार्य-व्यवहार अन्तरतम से आया हुआ होता। किन्तु फिर भी उनके विचार-सिद्धान्त सर्वथा निर्दोष नही। उन्होंने जीवन-जगत् को विरागी की दृष्टि से देखा है। दु ख और क्लेशो की व्याप्ति ही उन्हे सब कही दिखी। उनकी धारणा ही यह बन गयी कि ससार मे सुख है ही नही, और यह तो प्रत्यक्ष ही एक भ्रान्ति थी। इसमे सन्देह नही कि ससार में दुःख और कष्ट है, मगर साथ ही हर्ष और सुख भी तो है। ईश्वर ने यदि दुःखमय ससार की ही सृष्टि की है तो ऐसा सृष्टिकार्य तो अयुक्त ही कहलायेगा। दु.ख और कष्ट है तो उन्हें हम दूर करें, हताश होकर ससार से भाग खड़े होना तो कायरता हुई !"

जीवन के प्रति यही दृष्टिकोण लिये हुए वर्मा जी ने अपने साहित्यिक जीवन का समारम्भ किया। प्रत्यक्ष ही फूलों की सेज न होती यह। उन दिनो लेखन से आजीविका चलाने की सम्भावनाएँ नहीं के बराबर थी। यो हिन्दी लेखक, प्राय. जमीदार-व्यापारी या अन्य ऐसे वर्गो से ही आये, जो स्वय अपने बेकार लाड़ले लेखक बेटे की सार-सँभार करते। वृन्दावनलाल वर्मा को ऐसी कोई आर्थिक निश्चिन्तता उपलब्ध नहीं थी। वे एक सामान्य परिवार के कर्ता धर्ता थे, और अब बने भी तो एक वकील मात्र। वकालत का धन्धा है भी ऐसा कि दिन उगे से देर रात गये तक उसी का हुए रहना पड़ता। सौभाग्य बस इतना था कि कई साहित्यिक मित्र थे। सुप्रसिद्ध आत्मबलिदानी देशभक्त **गणेशशंकर विद्यार्थी** तो उन्हे कुछ-न-कुछ लिखने के लिए निरन्तर प्रेरित किया करते। बम

सोचते कि कुछ पैसे जोड़ ले तो लेखन मे लगें। उन्होने परिवार पालन के लिए मग की एक योजना बनायी। मगर दिन-दिन करके पूरा दशक निकल गया योजना आगे नही बढी। वर्मा जी का धीरज ही नही खो चला, चाव उत्साह भी विलुप्त होने लगे। और तब एक दिन साँझ को······ के ही शब्दो को ले·

"16 अप्रैल 1927 की बात है। सन्ध्या के पहले ही बेतवा किनारे के एक गढ़े मे जा बैठा। उस गढे के पास से सुअर और तेंदुए के निकलने का समाचार मिला था। मैं अकेला था। गढे मे बिस्तर बिछाकर बैठ गया। बन्दूक एक तरफ रख ली। रात लगते ही नदी के पक्षियो और दूर से जंगली जानवरो को पुकारें सुनाई पड़ने लगी। तारे दमक उठे। ठण्डी हवा चल पडी। मेरे मन मे उमगे कल्लोल करने लगी। मेरा ध्यान उस पार के पहाड़ो की ओर गया। पहाड़ो की श्रेणियाँ एक-दूसरी के पीछे कुहासे मे सोयी-सी जान पडी। उनके पीछे एक ओर शिखर पर कुण्डार का गढ ऊँघता-सा लगा। गढ अब वीरान है; पर एक युग मे, चन्देल-काल के कुछ आगे और पीछे, यहाँ कितनी चहल-पहल रही होगो! कितने विभिन्न प्रकार के स्त्री-पुरुष, समाज के कितने उलट-फेर, इतिहास की कितनी करवटे : इस युग ने देखी होगी! मन ही मन इतिहास के पन्ने पलट गया। बुन्देलखण्ड की अनेक गौरव-गाथाओ की स्मृति पुलक पर पुलक देने लगी। क्या उस काल मे सुन्दर ही सुन्दर और पुण्यात्मा ही पुण्यात्मा नर-नारी रहे? या गुण-अवगुण, सदाचार-कदाचार, पाप-पुण्य, सुरूप-कुरूप इत्यादि जैसे आज हैं, वैसे ही तब भी रहे?···उस युग से क्या आज के लिए कुछ ग्रहण किया जा सकता है? आखिर वर्तमान भूत की ही तो देन है।······यदि उस युग के जन-मानस का रहन-सहन, प्रेम-शौर्य, स्वार्थ-त्याग इत्यादि की क्रिया-प्रतिक्रियाएँ चित्रित की जाये तो आज के लिए कुछ अवश्य उपयोग का हाथ लगेगा।······परन्तु यह तो उपदेश देना होगा! उपन्यास-लेखक उपदेशक! तब क्या कला के लिए कला! न वह, न यह। बहुत से लोग बन्दर-भालू और साँप के तमाशे देखकर प्रसन्न हो जाते है। क्या उस प्रसन्नता से उन्हे कुछ स्फूर्ति, शक्ति और सद्यता प्राप्त होती है? शायद बहुत ही कम।···हमारे ये मेले और उत्सव के अवसर तो बिना किसी उपदेश के ही शक्ति-संचय करने का सन्देश देते है।···मै भी क्यो न कुछ ऐसा ही ढग अपनाऊँ? तरह-तरह के पात्र अनुभव की थैली में है ही। इनका उपयोग किया जाये। व्यक्ति कहीं का हो, उसे स्थान, समय और वातावरण तो देना ही पडेगा। कोई कहेगा आंचलिकता के चक्कर मे पड़ रहा हूँ। कहता रहे। पात्र का सृजन धरती

पर ही तो होगा, और फिर भुलाये हुए बुन्देलखण्ड के प्रति सादर-सम्मान भी उत्पन्न करना था। इतिहास और परम्परा, पात्र और घटना चक्र, कला और उद्देश्य सबका एक तूफ़ान दिमाग मे उठ खड़ा हुआ। आँधी धीरे-धीरे कम हुई और वस्तुस्थिति ने स्पष्टता पकड़ी। घड़ी मे देखा तो चार बज-गये थे। एक पल के लिए भी सोया नही। बिस्तरे पर पैर फैलाने-सिकोड़ने की सिलवटें मात्र थी। बदूक जहाँ की तहाँ टिकी थी। जानवर आये-गये बने रहे होगे। शिकार न खेलने पर भी बहुत आनन्द प्राप्त हुआ। बिल्कुल न सोने पर भी देह के कण-कण में उल्लास था, क्योंकि गाँठ मे कुछ पड़ गया था।''

यह एक महत्त्वपूर्ण और अतुल उपलब्धि का क्षण था वर्मा जी के जीवन मे। भगवान् बुद्ध ने पीपल तले बोध प्राप्त किया था, वृन्दावनलाल वर्मा ने कुण्डार गढ की छाया तले ऊबड-खाबड पहाड़ियो की तलहटी में दिशाबोध प्राप्त किया। और उसी दिन उन्होने अपना एक श्रेष्ठ उपन्यास 'गढ़ कुण्डार' लिखना आरम्भ कर दिया। इकसठवे दिन उसी स्थान पर वे पहुँचे, जहाँ भाव-समाधि की वे विलक्षण घड़ियाँ बीती थी। उन्होने अजुलि मे भरे फूल वहाँ बिखरा दिये और व्रत लिया कि अब मृत्युपर्यन्त लिखते रहेंगे। और 23 फरवरी 1969 को अन्तिम श्वास तक उन्होने इस व्रत का पालन किया।

3

बुन्देलखण्ड के प्रति अनुराग

बुन्देलखण्ड के प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रति वृन्दावनलाल वर्मा मे गहन अनुराग भाव था। उनका सारा लेखन इस अनुराग भाव से प्रभावित है। एक मित्र को उन्होने एक बार लिखा :

"जब भी खाली होता हूँ राइफल लेकर निकल पड़ता हूँ और फिर कई-कई दिन जगल-पहाड़ियों में घूमा करता हूँ। मन को कही कुछ भी प्रभावित करता दिख जाता है तो कागज पर उसके शब्दचित्र उकेर लेता हूँ। '**गढ़ कुण्डार**' तो अधिकाश लिखा ही इस तरह गया। '**विराटा की पद्मिनी**' लिखने के पूर्व कई बार खजुराहो गया। कुछ अध्याय तो लिखे भी वहीं रहकर!"

वर्मा जी का यह प्रकृति-प्रेम, वास्तव मे, बुन्देलखण्ड के जन-साधारण के प्रति उनकी वास्तविक प्रेम-भावना का ही प्रतीक है। वहाँ का जन-समाज निर्धन और अभावग्रस्त भले हो, अपनी देशभूमि को ऊँचे सास्कृतिक मूल्यो की सम्पदा उसने ही दी। **डॉ शिवकुमार मिश्र** को एक पत्र मे उन्होने लिखा :

"यदि आप कभी बुन्देलखण्ड के भीतरी स्थानों पर घूमे हो तो आपको स्मरण होगा कि हमारा यह दरिद्र खण्ड कितना विभूतिमय है। हम लोगो के पास पैसे नही है परन्तु हमलोग फिर भी फागें और राछेर गाते है, अपनी है, अपनी झीलो और नदी नालो के किनारे नाचते है और अपनी रगीली कल्पनाओ में मस्त हो जाते हैं। हमारे यहाँ हाल मे ही एक 'ईश्वरी कवि' हुआ है। इसका नाम भी यही था। इसकी फागे प्रसिद्ध है। गाड़ीवानो, चरवाहों, मल्लाहो से लेकर राजा महाराजा लोग तक उसकी फागो को झूम-झूमकर गाते है। बिहारी के दोहो की तरह उसकी फागे भी छोटी-छोटी-सी है। बहुत सरल भाषा मे है ओज और रस से ओत-प्रोत। प्रत्येक फाग किसी मनोभाव का एक सम्पूर्ण चित्र। ये ही नदियाँ, नाले, झीले और बुन्देलखण्ड के पर्वत वेष्ठित शस्य श्यामल खेत मेरी

प्रेरणा के प्रधान कारण है इसलिए मुझे 'हिस्टॉरिकल रोमास' पसन्द है।''

(**वृन्दावनलाल वर्मा : उपन्यास और कला**, पृ० 267)

और वस्तुतः वर्मा जी का ऐसा कोई उपन्यास नहीं, जिसमे बुन्देलखण्ड के के नदी-पहाड़ो, फूल-पत्तो, जगलो और जीव-जन्तुओं और देहातों और लोक जीवन की सुन्दर-सुन्दर छवियाँ देखने को न मिलती हो। सच तो यह है कि वर्मा जी की हिन्दी भी मे बुन्देलखण्डी की लय लिये हुए रहती है। कैसे करेगा कोई इस लय का रूपान्तर ! उदाहरण के लिए '**गढ़ कुण्डार**' की इन पक्तियो को ही देखे :

> ''सालय, करधई, रेवजा, नेगड, अडूस, खैर, काकेर और मकोय के घने जगल मे, जहाँ कही-कहीं शिकारियो को हतोत्साह करने के लिए लम्बी घास भी खडी हुई थी। इस दल को अपने घोड़ो के कारण बडा कष्ट उठाना पड़ा। जगह-जगह काँटे चुभे, और भरको तथा नालो मे होकर घोडो को निकालने मे कई स्थानो पर प्राणो पर आ बनने का सकट उपस्थित हुआ।''

पलोथर की पहाडियो के सौंदर्य को तो वर्मा जी ने इस उपन्यास मे अमर ही कर दिया है। एक-एक वर्णन एक-एक मनोदशा को रूप देता चलता है। आगे की ये पंक्तियाँ भी देशभक्ति और शौर्य को कितना सजीव रूप दे देती है :

> ''सूर्य की कोमल किरणे वृक्ष-शिखाओ के झुरमुटो की अनवरत वनस्थली पर बिछौना-सा बिछाये हुए थी। पलोथर, कुण्डार और दक्षिणवर्ती सारोल की पहाडियाँ इन झुरमुटो के ऊपर उकडूँ-सी बैठी या लेटी हुई मालूम पडती थी। कुण्डारगढ के बुर्ज प्रकाश मे चमक रहे थे। गिरि-श्रेणियाँ ऐसी मालूम पड़ती थीं मानो भीमकाय अटल सैनिक जुझौति के इस खण्ड की रक्षा के लिए डटे हों।''

नदियो ने तो वृंदावनलाल वर्मा की कल्पनाओ को जैसे पख ही दे दिये हों। कही उनके वर्णन मे ये चढी बाढ का विकराल रूप लिये दिखती तो कही निरे देहात की लाजो-भरी नवेली बहू! यों उनकी पुस्तको में सबसे अधिक वर्णन और उल्लेख बेतवा के मिलते हैं। लगता है, बेतवा ही उस समूचे प्रदेश की नियति में उसकी साक्षी रही हो। बेतवा ही साक्षी रही है, युगल प्रेम की उद्दाम भावनाओं की, इसी ने देखे हैं भरे यौवन के सपनो मे लिपटे युवा-युवतियो के आत्म-बलिदान; और इसी के आस-पास की भूमि मे सिमटे पडे एक से बढकर एक रोमाचकारी युद्ध। सचमुच, बेतवा एक सफल प्रतीक है उस समूचे प्रदेश की ऊँची-नीची और बीहड धरती का और उस धरती के जीवन का जो अबतक अनकहा सा रहा हो ! घटनाओ पर घटनाएँ होती

हुई निकल गयी, किन्तु बेतवा स्वय जीवन की नाई अपनी सारी गतिमयता लिये हुए बहती रही है। बाढ के वेग मे झूमती हुई बेतवा का यह एक चित्र 'झाँसी की रानी' मे आता है -

"बेतवा की धार पुंज के ऊपर पुंज-सी दिखलायी पडती थी। क्रम अभग और अनन्त-सा। जब एक क्षण मे ही अनेक बार एक जलपुज दूसरे से सघर्ष खाता और एक-दूसरे से आगे निकल जाने का अनवरत, अथक, अटूट प्रयास करता तब इतना फेनिल हो जाता कि सारी नदी मे फेन ही दिखलाई पडता था। झाग की इतनी बडी, निरन्तर बहती और उत्पन्न होती हुई राशियाँ आडे आ जाती थी कि घुडसवारो को सामने का किनारा दिखलाई नही पडता था। लहरो के एक पल्लड को चीरा, उस पार के झाग को देखा कि दूसरा सामने। शब्दमय प्रवाह की निरर्थक भाषा मानो बार-बार कहती थी : बचो, बचो ! सामने की उथल-पुथल से आगे बढे कि कि बग़ल से थपेड पडी। सवारो के चारो ओर भवर पड-पड़ जा रहे थे।"

कहने की आवश्यकता नही कि प्रकृति-वर्णन स्वय मे लक्ष्य नही हुआ करता। उसके द्वारा केवल एक पृष्ठभूमि प्रस्तुत की जाती है। पृष्ठभूमि : वहाँ के सामाजिक जीवन की और जीवनगत कार्य-व्यवहारों की। बेतवा के तूफानी रूप चित्रण के द्वारा भी झाँसी के शूरवीरो की अदम्यता दर्शायी गयी है कि उन्होंने किस प्रकार प्राणो की बाजी लगाकर बेतवा की उन्मत्त धारा को पार किया।

घटनास्थल और पात्रो पर भी बल इसी दृष्टि से दिया जाता है कि एक क्षेत्र विशेष की श्री-शोभा, वनस्पति, जीव-जन्तु, और लोक-सस्कृति का परिचय मिल सके। लेखन की इस शैली को पाँचवे दशक मे 'आचलिक' नाम अभिहित किया गया। वृन्दावनलाल वर्मा लेखन में तीन दशक पूर्व ही इसकी विशेषताएँ उपस्थित थी। **'विराटा की पद्मिनी'** की निम्न पक्तियो मे जो ग्राम-दृश्य उभरकर सामने आता है, वह केवल बुन्देलखण्ड का ही हो सकता है :

"बिरवाई से लगे हुए तीन-चार महुए के पेड़ थे। महुओ के पीछे से एक चक्करदार नाला निकला था। दूसरी ओर वह पहाड़ी थी, जो मुसावली पाटा कहलाती है एक ओर बीहड जगल। कुंजर सिह महुओ के नीचे गया। अहीर की कुछ भैसे नाले के पास चर रही थी, कुछ महुए के नीचे ऊँघ रही थी। एक लडका कुछ धूप कुछ छाया मे सोता हुआ जानवरो की देखभाल कर रहा था। घास आधी हरी, आधी सूखी थी। करधई के पत्ते पीले पड़-पडकर गिरने लगे थे। नाले का पानी अभी नही सूखा था। कुछ भैसे उसमे लोट-लोटकर शब्द कर रही थी। चिडियाँ

इधर से उधर उड़-उड़कर शोर कर रही थी। सूर्य की किरणो मे कुछ तेजी और हवा मे कुछ ऊष्मता आ गयी थी।''

वृन्दावनलाल वर्मा के वर्णनो मे लोकगीत और लोकनृत्य जगह-जगह पिरोये हुए मिलते हैं। कही-कही तो पात्र बोलते भी अपनी बुन्देलखण्डो मे ही है। इससे उस बोली की अपनी वह सादगी और कोमलता सामने आ जाती है, जो हिन्दी में शायद लाते न बनती। वर्णनो मे एक वास्तविकता भी इस प्रकार झलकने लगती है। सचमुच बुन्देलखण्ड के मुग्धकर प्राकृतिक सौन्दर्य से अभिभूत होकर कोई भी 'गढ कुण्डार' के दिवाकर की उस भावना को दोहरा उठेगा :

"इस सुन्दर देश के लिए प्राण देना बड़े गौरव की बात होगी।"

4

प्रामाणिकता की खोज

वृन्दावनलाल वर्मा की ख्याति मुख्यत. उनके ऐतिहासिक उपन्यासो पर आधारित है, भले ही सख्या में सामाजिक उपन्यास भी कम नही। उपन्यास की प्रामाणिकता, चाहे वह सामाजिक ही हो, निर्भर उसकी ऐतिहासिक तथ्यता पर ही करती है। वर्मा जी ने इस सचाई को समझा था, और ग्रहण भी किया। इसीलिए जो भी विषय हाथ मे लेते, उससे सम्बन्धित तथ्यों की छानबीन वे पुरातत्वज्ञ की लगन के साथ करते। सारे उपलब्ध साहित्य को तो पन्ना-पन्ना पढ़ते ही, सरकारी रिकॉर्ड, गजट और म्यूजियमो तक को छान डालते। घटनास्थल को तो बार-बार जाकर देखते, जिसमे वहाँ के भौगोलिक और सामाजिक-सास्कृतिक परिवेश की पूरी जानकारी हो जाये इतनी सारी भूमि बना लेने बाद कही वर्मा जी अपनी कल्पना को सक्रिय होने देते कि एक बीते युग का छविरूप साकार होकर सामने आ सके। जैसा भाव-स्वभाव कथानक के युग-विशेष का होता, उसके अनुरूप ही अपने पात्रो और स्थितियों की सरचना किया करते। **'हिस्टॉरिकल नावेल्स एण्ड माई व्यूपॉइण्ट'** लेख मे उन्होने कहा है :

> "ऐतिहासिक उपन्यासो के लेखक का एक अपना भी दृष्टिकोण रहता है, और इतिहासकार की अपेक्षा अधिक छूट भी उसे लेखन मे उपलब्ध होती है।···इतिहासकार जिन स्थलो पर प्रकाश की रेख तक नही डालता, उपन्यासकार को कल्पना के सहारे वन सभी भूले-बिसरे या खोये हुए कथा-सत्यों का निर्माण करना होता है। इतना ही नही, उसी आलोक-प्रभा से उन्हें मण्डित भी करना पड़ता है, जो जाने-माने ऐतिहासिक तथ्यो का विशेष गुण होती है। एक बात अवश्य ध्यान में बनाये रखनी होती है कि उन तथ्यो या परम्पराओ की पुनर्रचना ताशघर या क्लबघर की रचना जैसी न हो।"

वर्मा जी बुन्देलखण्ड के एक अच्छे इतिहासकार बन सकते थे। किन्तु स्वीकार

किया उन्होंने उपन्यासकार बनना। क्योंकि इसका अवसर उपन्यास ही देता कि अभीष्ट काल की एक सजीव और बहुआयामी छवि प्रस्तुत कर सकें। अपने प्रसिद्ध उपन्यास झाँसी की रानी के परिचय मे वे कहते है

"और मैंने निश्चय किया कि उपन्यास लिखूँगा, ऐसा जो इतिहास से रग-रेशे से सम्मत हो और उसके सन्दर्भ मे भी हो। इतिहास के ककाल मे मांस और रक्त का सचार करने के लिए मुझको उपन्यास ही अच्छा साधन प्रतीत हुआ।"

वृन्दावनलाल वर्मा का परिवार जैसे झाँसी की रानी की कथा-कहानियो और किबदतियो का भण्डार ही था। कितनी-कितनी कहानियाँ दादी से सुनी थी। अब उनकी सचाई मे रमने के लिए इतिहास ग्रन्थो में पैठना शुरू किया। अनेक का खण्डन सामने आया। स्वभावतः वर्मा जी तब सन्देह मे भी पडे कि कही सब लोकसमाज की कल्पनाएँ ही न हो। उदाहरण के लिए, उन्नीसवी शताब्दी के कई प्रतिष्ठित इतिहासकारो का लिखा मिला कि झाँसी की रानी अंग्रेजो का प्रभुत्व स्वीकार कर चुकी थी, उन्हें युद्ध मे उतरना पडा केवल परिस्थितियो से विवश होकर। वर्मा जी को विश्वास नही आया; वे सचाई की खोज में बराबर लगे रहे। अकस्मात् झाँसी की कचहरी में चालीस-पचास पत्र एक अलमारी मे रखे हुए हाथ पड़े। ये पत्र निर्णायक महत्त्व के प्रमाणित हुए। इन्हे झाँसी पर पूर्ण अधिकार कर लेने के बाद एक अंग्रेज सेनाधिकारी ने लेफ्टिनेण्ट गवर्नर को लिखा था। इनसे प्रत्यक्ष था कि विवशता के कारण रानी के युद्ध मे उतरने की बात निराधार थी।

वर्मा जी झाँसी के कई पुराने निवासियो से जाकर मिले। इनमे नवाब अली के एक वशज भी थे। इनसे नवाब साहब की कई डायरियाँ प्राप्त हुई। इन डायरियो से उस काल के जीवन और प्रथा-परम्पराओ की जानकारी तो मिली ही, रानी साहब की कतिपय झलकियाँ भी मिल सकी। नवाब साहब ने 1858 मे ब्रिटिश अधिकारियो के समक्ष अपने कुछ अपराध स्वीकार किये थे। वर्मा जी ने प्रयत्न करके इनके उस बयान की और झाँसी की कलक्टरी से सारे समर्थक दस्तावेजों की प्रतिलिपि हस्तगत की। 1857 की घटनाओ के साक्षियो मे अंग्रेज पुलिस के एक दारोगा मुन्शी तुराब अली भी थे। इन्होंने रानी साहब को अपनी आँखो देखा था और कितनी ही घटनाओ के भुक्तभोगी भी रहे थे।

एक अदालती मामले के सिलसिले में वर्मा जी को मोतीबाई का सन्धान मिला। मोतीबाई रानी साहब की राजकीय रगशाला मे नर्तकी अभिनेत्री रही थी। वर्मा जी सयोग से एक मसजिद से सम्बधित ज़मीन के केस मे वकील थे। इस मामले के पेपर्स की नक़लें ग्वालियर से मँगानी पडी। इनसे ही वर्मा जी

को जानकारी मिली कि वह जमीन 'रंगशाला' वाली मोतीबाई की थी। सम्बन्धित तथ्यों की और खोज करते हुए वर्मा जी को उस काल के अन्य कई लोगों की भी जानकारी मिली। ये थे जूही, दुर्गा, मुगल खाँ, झलकारी दुलैया। झलकारी कोरी बुनकर बिरादरी की थी। अब तो ये लोग बीड़ी बनाने लगे हैं; मगर झलकारी के विषय में सारा वृत्तान्त सुनकर सारी बिरादरी को गर्व का अहसास हुआ था।

वर्मा जी के '**मृगनयनी**', '**टूटे काँटे**', **महारानी दुर्गावती**', '**अहिल्याबाई**', '**रामगढ़ की रानी**' और '**माधव जी सिन्दिया**' उपन्यास भी ऐतिहासिक नारी-पुरुषों पर आधारित हैं। कथनकों में सजीवता और प्रामाणिकता लाने के लिए यहाँ भी उन्होंने अध्ययन और अन्वेषण की वही संयुक्त पद्धति अपनायी, जो '**झाँसी की रानी**' लिखते समय ग्रहण की।

कुछ उपन्यासों में वर्मा जी ने दो-चार कथानक लोकसाहित्य से भी लेकर समोये हैं। पर काय और प्राण इनको भी उस काल के इतिहास और अपनी खोजों के ही दिये हैं। '**विराटा की पद्मिनी**' की कहानी उन्हें एक अनपढ़ बूढ़े से सुनने को मिली थी, जो झाँसी के मुरतानपुर गाँव का रहनेवाला था और वहाँ उसका बहुत सम्मान किया जाता था। उस रात नींद ने वर्मा जी की पलकों का छुआ तक नहीं। कुछ दिन बाद यही कहानी एक डाँगी बूढ़े ने भी सुनायी। कहानी की नायिका इसी डाँगी बिरादरी की थी। वर्मा जी ने विराटा, रामनगर और मुसावली जाकर सब देखा-समझा। वहाँ के सरकारी कागजात में पद्मिनी के आत्म-बलिदान की कथा सच्ची जान पड़ी। मुसावली के कागजातों तो यहाँ तक मिला कि दतिया नरेश ने एक बार कहानी में उल्लिखित दोनों कुंओं की खुदाई भी करायी थी।

"पद्मिनी और नायक सिंह को छोड़ इस उपन्यास के अन्य सभी पात्र काल्पनिक हैं, जिनकी रूपरेखा आधुनिक प्रदर्शों या प्रतिमानों पर रखी गयी है। उपन्यास की भूमिका में वर्मा जी ने कहा भी है :

> लोचनसिंह, देवीसिंह, जनार्दन शर्मा और अली मर्दान इत्यादि चरित्रों के नाम काल्पनिक हैं; परन्तु उनका इतिहास यथार्थपरक है। देवीसिंह का वास्तविक नाम इस समय नहीं बतलाया जा सकता। अनेक कालों की सच्ची घटनाओं का एक ही समय में समावेश कर देने के कारण मैं इस पात्र से सम्बन्धित घटनाओं को दूसरी घटनाओं से अलग करके बतलाने में असमर्थ हूँ। जनार्दन शर्मा का वास्तविक जीवन एक दुःखान्त घटना है। जनार्दन ने किस प्रकार एक जाल रचकर देवीसिंह को राज्य दिलाया था, उसी तरह वह इतिहास और लोकगाथाओं में भी प्रसिद्ध है। परन्तु वास्तविक जनार्दन का अन्त भी बड़ा भयानक हुआ था। ··

वास्तविक लोचनसिंह को इस संसार से विदा हुए अभी बीस वर्ष ही हुए है। वह बड़े ही विद्रोही और लड़ाकू प्रकृति के पुरुष थे। मेरे मित्र श्रीयुत् मैथिलीशरण गुप्त ने इन उद्दण्डतापूर्ण कृत्य पर 'दस्ताना' शीर्षक से एक कविता भी लिखी थी, जो सरस्वती मे प्रकाशित भी हुई, जो उनकी बहादुरी का प्रमाण भी है। परन्तु जैसा मैं पहले कह चुका हूँ, उपन्यास मे विन्यस्त घटनाएँ तथ्यपरक होने पर भी अपने अनेक कालो से उठाकर समय की एक ही लड़ी मे गूँथ दी गयी हैं। इसलिए कोई महाशय उपन्यास के किसी चरित्र को उसके वास्तविक रूप का संपूर्ण प्रतिबिम्ब न समझे और यदि कोई बात ऐसे चरित्र की उन्हें खटके, तो बुरा न माने। इसी कारण मैं उपन्यास मे वर्णित मुख्य चरित्रो का विस्तृत परिचय इस समय दे पाने मे समर्थ नही।"

'कचनार' का ढांचा वृन्दावनलाल वर्मा की रचना-प्रक्रिया का एक और आयाम प्रस्तुत करता है। कथानक की प्रेरणा भले ही उन्हें प्रसिद्ध भुवाल सन्यासी काण्ड मे मिली, पर वास्तव मे यह काण्ड केवल साधन मात्र रहा। वर्मा जी को इससे मिलती-जुलती एक और घटना की याद कौंध आयी, जो लगभग सौ वर्ष पूर्व इसी इलाके मे ही घटी थी। भुवाल की तरह यहाँ भी राजा दिलीपसिंह को सगा भाई मानसिंह विष देता है। पर भयकर आँधी-पानी आ जाने के कारण शव का दाह नही किया जा सका। सयोग से गुसाई सन्यासियो का एक दल श्मशान की ओर से निकला। उस शव मे प्राणो के लक्षण दिखाई पड़े। महन्त जी चूंकि राजा दिलीपसिंह को पहचानते थे अतः शव को उठवाकर वे अपने साथ चले लिये गये। जैसा कि भुवाल सन्यासी के मामले मे हुआ, दिलीपसिंह भी उठे तो स्मरणशक्ति खोये हुए। बहुत प्रयत्न करने पर ही महन्त जी उसे फिर से सुयोग्य और स्वस्थ-चित्त बनाने मे सफल हो सके। थोड़े दिनो के बाद, गुसाई की सेना ने धामोनी पर धावा बोला और दिलीपसिंह को उसका राज्य वापस दिलवाया। इस बीच मानसिंह दिलीपसिंह की रानी को अपनी बना चुका था। दिलीपसिंह ने अब कचनार को रानी बनाया, जो उस विश्वास-घातन रानी की सहेली बनकर आयी थी।

कथानक की सरचना को दृष्टि मे रखते हुए वर्मा जी ने और भी कई घटनाओ का स्थान और क्रम बदला है। यह मात्र इसलिए नही कि ऐसी घटनाओ के मनौवैज्ञानिक पहलुओं की छानबीन की जा सके, बल्कि इसलिए भी की पिण्डारियो के विद्रोह, गोसाइयो के उदय, मराठो के युद्ध और मध्य भारत मे ब्रिटिश सत्ता के जमने का भी इतिहास सामने ला सकें। चरित्रो मे, अवश्य, एक कर्नल डरू को छोड अन्य सभी काल्पनिक हैं। कथानक की प्रामाणिकता के बारे मे वर्मा जी भूमिका मे बताते है -

"कचनार के ऐतिहासिक पहलू के सम्बन्ध मे मुझको उतना सकोच नही है। उपन्यास मे वर्णित सब घटनाएँ सच्ची है। केवल समय और स्थान का फेर है। उदाहरण के लिए, डरू की घटना जो उसके भाई के वध से सम्बन्ध रखती है, धामोनी की नही है बल्कि ओरछा राज्य स्थित बोरा ग्राम से सम्बन्ध रखती है। डरू का नाम भी उबोरा से ही लिया गया है। बाकी घटनाएं: डरू का कर्नल हो जाना, पिण्डारियो का सागर की लूट मे भाग लेना, और अन्त मे डरू का मानूसपूर्वक अपने वध का सामना करना—सब ऐतिहासिक है। जनरल माल्कम ने अपने 'मेमॉयर्स ऑव सेण्ट्रल इण्डिया' मे उनमे से कई का वर्णन किया है। परतु असली डरू जल्लाद के हाथो मारा गया था, जब सिपाहियो ने गोली मारने से इनकार किया। परन्तु मुझको डरू को मरवा देने की आवश्यकता नही जान पडी। महन्त अचलपुरी और उनका अखाडा एक वास्तविकता है। गुसाई सैनिको के समूह पराक्रम, विकास और धनोपार्जन की लालसा लिए देश के मध्य भाग मे घूमा करते थे। ऐसे एक समूह ने तो एक राज्य ही स्थापित कर लिया, जो अब तक चला आ रहा है।"

'सोना, एक अनूठा ही उपन्यास है। यह न तो ऐतिहासिक है न सामाजिक ही। समूचे का समूचा बुन्देलखण्ड की लोककथाओ पर आधारित है। इसलिए अपने आप मे यह एक प्रयोग ही कहा जायेगा। बुन्देलखण्ड की लोककथाओ को उपन्यास के रूप मे बुनने का विचार कैसे उपजा, इस विषय मे वर्मा जी ने लेखा है:

"सन् 1950 मे लखनऊ रेडियो से मैंने दो बुन्देलखण्डी लोककथाएँ प्रसारित की थीं, जो कुछ मित्रो को बहुत पसन्द आयी और उन्होने आग्रह किया कि इन्हे उपन्यास का रूप दे दूँ।" इसी प्रकार, एक लोक-कथा सुनाने के बाद उसके बारे मे उन्होने बताया था—

"यह कहानी गाँवो मे लगभग इसी रूप में प्रचलित है। जनता इसे आनन्द के साथ सुनती है और बिना किसी आलोचना के इसके सार को ग्रहण कर लेती है। परन्तु इसको तर्क, युक्ति और स्वाभाविकता की सगति नही मिल सकती। यदि दी जाये तो शायद ही कोई ग्रहण करे। उपन्यास तो इस कहानी पर लिखना असम्भव प्रयत्न-सा दीखता है। रेडियो पर मैंने जो दो कहानियाँ प्रसारित की थीं, वे पहले तो इसी वर्ग की जान पड़ी; फिर उनमे मानवीय तत्त्व अधिक जान पडे और मुझे ऐसा भान हुआ कि उन कथाओ की अनेक कडियो को तर्क, युक्ति और स्वाभाविकता की संगति मे बिठलाया जा सकता है। उन कडियों को जोड़ने के लिए बहुत-सी कथा सामग्री कल्पना ने प्रस्तुत कर दी, कुछ

जीवन के अनुभवों ने। परन्तु मेरा यह प्रयत्न बराबर रहा है कि मूल कथाओं का ग्राह्य रूप बिगड़ने न पाये।"

उपन्यास का सार-संक्षेप इस प्रकार है : सोना और रूपा दो अनाथ बहनें है, जो गाँव में मामा के पास रहती हैं। दोनों वहाँ खेतों मे अन्य स्त्री-पुरुषो के साथ काम करती हैं। सोना की चम्पत से भेंट होती है। रूपा डाह के मारे मामा को सब बता देती है। मामा इन दोनों का ब्याह कर देना तय करता है। छोटी बहन रूपा का ब्याह अनूपसिंह के साथ होता है, जो एक मामूली हैसियत का किसान है। सोना को अपनी रानी बनाने की माँग एक ऐसा राजा करता है जो लँगड़ा और बूढ़ा है। पैसा उसके पास अवश्य बहुत है। बेचारी रूपा माता लक्ष्मी की पूजा-अर्चना में लग जाती है। एक दिन आँगन में कुछ खोदते रूपा और अनूप को मुहरों के ग्यारह कलश मिलते हैं। ये भी अब धनी होकर फूलों की सेज पर पसरने लगते हैं। दस कलश देखते-देखते रीत जाते हैं। ग्यारवें की आखिरी मुहर लेकर अनूप बाजार जाता है तो सारी-की-सारी खोटी बतायी जाती है। रात को सोते में रूपा एक सपना देखती है कि उसकी सेज पर साँप रेंग रहा है। चीख के साथ उसकी आँख खुलती है। अनूप धीरज बँधाता है और वह फिर सो जाती है। इस बार उसे गहरा गड्ढा दीखता है, जहाँ एक मिट्टी का दीया टिमटिमाता होता है। दीया बोलने लगता है :

"साँप तो समय और जीवन का चिह्न है। अनन्त का रूप है। दिखलाई नहीं पड़ता, पर होता हर जगह है। गरीब काम करते है, उनको भरपेट खाना नहीं मिलता। तुम लोग काम के नाम कुछ नहीं करते, बस धन-सम्पत्ति को नाश किया करते हो। मेहनत, सफाई और कला की उपासना से ही जीवन को सच्चा बड़प्पन मिलता है, इस तरह के जीवन से नहीं—जिसके पीछे सिर के बल दौड़े चले जा रहे हो। तुम अगर किसी मन्दिर के बनाने के काम पर तसले से चूना ढोने की मजदूरी करो तो तुमको जीवन की महत्ता मालूम हो और तभी यह भी जान पड़े कि मजदूरी का तसला सुख देता है या फूलों की सेज !"

रूपा और अनूप एक मन्दिर बनानेवाले मजदूरों की एक टोली में शामिल हो जाते है। सचमुच ही उन्हें तब अनुभव होता है कि कड़ी मेहनत से रोटी कमानेवाले ही जीवन का सच्चा सुख पाते है।

इस उपन्यास में उन लोगों को विशेष आनन्द आयेगा, जिन्हें लोककथाओं मे रस मिलता है। वृन्दावनलाल वर्मा ने यहाँ वही शैली बनाये रखी है, जो अलाव तापते बैठे लोगों को लोककथाएँ सुनानेवालों की होती है। यह वार्तालाप लोककथा के रस को बनाये रखता है। साथ ही बुन्देलखण्डी बोली का पुट वातावरण निर्माण में सहायक हुआ है।

इस उपन्यास की भूमिका में लेखक ने भरोसा दिलाया था कि इस शैली के और भी उपन्यास लिखेंगे। यह हिन्दी का दुर्भाग्य था कि वे ऐसा नहीं कर पाये। वस्तुत. ऐतिहासिक कथानकों को महत्ता प्रदान करने के कारण इन्होंने उन्हें कहीं अधिक प्रभावित किया। उपन्यासों को दी हुई वर्मा जी की भूमिकाएँ वास्तव में उतना ही महत्त्व रखती हैं, जितना कि स्वय उपन्यास। क्योंकि इनके न रहने पर ऐतिहासिक सामग्री को गैर-ऐतिहासिक तथ्यों से विलग कर पाना जहाँ कठिन होता वहाँ, किसी उपन्यास का महत्त्व पूरा-पूरा आँक पाना भी।

5

सामान्य जन ही सच्चा नायक

वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यास यों केन्द्र मे किसी राजा-रानी को लेकर लते है, पर उनके वास्तविक नायक-नायिका सामान्य जन ही होते है। उनके पन्यासो मे समूचे सामन्तवर्ग के लिए एक गहरी अरुचि दूर भीतर तक बसी ोती है और उस समाज-व्यवस्था के लिए जो अन्ध शोषण और जातिवाद को ान्यता देती रही है। उनके उपन्यास हमे इस सत्य से अवगत कराते है कि ष्ठ मानव मूल्यो और सांस्कृतिक तत्त्वो के सर्जक और रक्षक तो वस्तुत: जन ामान्य ही होते है। '**विराटा की पद्‌मिनी**' मे वर्मा जी कहते है:

> "जिस समय बडे-बड़े राजा और नवाब अपनी विस्तृत भूमि और विशाल सम्पत्ति के लिए रोज-रोज खैर मनाते थे, अपने सगे-सम्बन्धियो अथवा परायो के हाथो से अपने मुकुट की रक्षा मे व्यस्त रहते थे, और उसी व्यस्तता की अवस्था मे बहुधा दिन मे दो दो-चार घण्टे नाच-रंग, दुराचार और पापाचार के लिए भी निकाल लेते थे, उस समय प्रजा अपनी थोडी-सी भूमि और छोटी-सी सम्पत्ति के बचाव की फिक्र करते हुए भी देवालयो मे जाती, कथा-वार्ता सुनती, और दान-पुण्य करती थी। सन्ध्या समय लोग भजन गाते थे। एक-दूसरे की सहायता के लिए यथावकाश प्रस्तुत हो जाते थे। यद्यपि बडो के सार्वजनिक पतन की विषाक्त छाया मे साधारण समाज को खोखला करनेवाले अर्थमूलक स्वार्थ का पूरा घुन लग चुका थी, परन्तु बडो को छोड़कर छोटो मे छल-कपट और बेईमानी का आम तौर पर दौरदौरा नही हुआ था।"

सामन्त लोग जब एक-दूसरे के विरुद्ध युद्ध छेड़ते तब भोगना और भुग-तना सबसे अधिक सामान्य जनवर्ग को ही होता।

> "ऐसी अवस्था मे प्रजा को तो जैसे अपने भाग्य के भरोसे छोड दिया जाता था।···बेचारे किसान तो घर और खेती छोडकर जा भी नही सकते थे। उन्हें पेट के लिए, राजा के लगान के लिए, लुटेरो की पिपासा के लिए खेतों की देखभाल और रखवाली करनी हो पडती थी।"

इसी सन्दर्भ मे वृन्दावनलाल वर्मा यह भी स्पष्ट करते हैं कि किसान वर्ग क्यो इतना धर्मनिष्ठ था। वे लिखते हैं :

> "इसकी तो आशा ही न होती कि चैत-बैसाख तक खेती बची रहेगी। यदि कही से घुड़सवार सेना आ गयी तो खेतो मे अन्न का एक दाना और भूसे का एक तिनका भी न बचेगा। परन्तु जहाँ आशा नही होती वहाँ निराशा ईश्वर के पैर पकडवाती है। यदि बच गये तो कृतज्ञ हृदय ने एक आँसू ढाल दिया, और बह गये तो भाग्य तो कोसने के लिए कही गया ही नही।"

'मृगनयनी' मे ग्वालियर नरेश को एक आदर्श शासक के रूप मे प्रस्तुत किया गया है। किन्तु वर्मा जी यहाँ भी एक किसान के मुँह से कहलाते नही चूकते : "बाबा, हम किसान लोग किसी से नही लडते। लड़ाई राजपूतो, तुर्कों और पठानो का काम है।" उन्होने जोर इसी बात पर दिया है कि किसान लोग खेतो मे पसीना बहाते है जबकि शासक वर्ग को सत्ता के लिए रक्त बहाने से ही अवकाश नही होता।

'कचनार' से प्रकट है कि वर्मा जी किसानो के अन्तहीन शोषण से कितने अधिक व्यथित थे। दलीपसिंह लगान-वसूली कड़ाई के साथ करता है। सोनेशाह बताता है

> "जो किसान अपने किले के आश्रय मे आ बसे है, उनसे लगान बिना कठिनाई के वसूल हो जाता है, और जो दूर की भूमि पर बसे हुए है या पहाडी इलाको मे रहते है वे समय पर नही देते—पूरा तो दे ही नही पाते।"

इससे प्रकट है कि जिन किसानो को दुर्ग मे शरण मे मिली हुई है उन्हे अपने सामन्त राजा को प्रसन्न रखने के लिए जैसे भी बन पड़े, लगान भरना ही होता है। इनसे भिन्न, जिन किसानो के पास लगान भर सकने के साधन न हो, या गुजारा करने की भी कठिनाई हो, उन्हें बरबस बाहर खेतों पर ही रहना पड़ता है। और यहाँ तो आक्रमणकारियो की ढहायी कोई भी आफत किसी समय भी टूट पड सकती है।

इस उपन्यास मे डरू और बैजनाथ दो किसान भाई है। सामन्त राजा के एक अपने आदमी सोनेशाह से इनकी कहा-सुनी हो जाती है। एक दिन बैजनाथ को सोनेशाह मारता है। डरू भाई को बचाने के लिए दौड़ता है और कहता है "काकाजू, क्या कर रहे हो ? ऐसे तो कोई जानवर को भी नही पीटता जैसे तुम मेरे भाई को पीट रहे हो ?" सोनेशाह और डरू मे रार बढ जाती है और लडाई मे सोनेशाह मारा जाता है। डरू जगल भाग जाता है। सोनेशाह के मारे जाने का दलीपसिंह को पता चलता है। वह खौल उठता है

और हुक्म देता है : "जैसे बने तैसे डरुआ और बैजुआ को हाजिर करो : घर मे आग लगा दो।" जब तक यह न हो जायेगा, काकाजू की अन्तिम क्रिया न की जायेगी।" बैजनाथ लाया जाता है। दलीपसिंह गरजता है "तुम दोनो ने काकाजू का बध किया है! कोई है? इसके टुकडे कर दो!" पर सिपाही आगे बढें कि दलीपसिंह पुकार उठता है, "नही, काकाजू के खून का बदला मुझको स्वय लेना चाहिए!" और वह तलवार खीचकर एक हुमक के साथ बैजनाथ के दो टुकडे कर देता है। फिर मुँह फेरते हुए कहता है: "फेंक दो इस लाश को और जाकर काकाजू का क्रिया-कर्म करो।"

सामन्ती क्रूरता का यह भी एक चित्र है।

धर्म के धुरन्धरों ने इस सामन्ती शोषण को और भी पक्का और सशक्त बनाने मे अपनी निजी भूमिका निबाही है। '**मृगनयनी**' मे एक स्थल पर आया है

> "राज्य के सिपाहियो की उगाही के बाद, पुजारियों की उगाही की बारी आती है। किसानो को अन्न के दर्शन राम-राम करते हुए थे, इसलिए देने मे वे लोग किनर-मिनर कर रहे थे। पुजारी जी महाराज ने उन्हे चेताया . शास्त्र का वचन कभी न भूलो। छठवॉ भाग राजा का होता है, सो तुमने दे दिया। बीसवॉ देवता का, तीसवॉ ब्राह्मण का होता है। उसके देने मे आनाकानी करने से यह लोक तो बिगडेगा ही, परलोक से भी हाथ धो बैठोगे।
>
> एक किसान प्रतिक्रिया को मन मे ही रखते हुए बोला : "फिर हम क्या खायेंगे?"
>
> पट से उत्तर दिया ब्राह्मण देवता ने : "भगवान् देगे। मैं प्रार्थना जो करूँगा।"
>
> एक किसान भुनभुनाया : "भजन करने पर भी दिल्ली के सुलतान ने इतना खून बहा दिया! इतने घर और खड़े खेत चौपट कर दिये।"
>
> पुजारी जी का पारा चढ़ गया "देखो इस मूरख को! घोर नास्तिक! अब कोई नयी विपदा बुलानेवाला है। करता है एक, भोगमान भुगतनी पड़ती है हम तुम सबको!"

वर्मा जी सामन्ती आचार-व्यवस्था के दोरंगेपन को भी जानते थे। ब्राह्मणो ने शासक वर्ग और ऊँची जातियो के लिए एक नियम बना रखे थे और निर्धन तथा निचले वर्गो के लिए दूसरे। ऐसा ही विवाहो के विषय में भी था। '**मृगनयनी**' मे अटल अपने से निम्न वर्ग की एक कुमारी युवती, लाखी से विवाह करना चाहता है। गॉव के पुजारी जी अनुमति नही देते। अटल तर्क देता है कि राजा मानसिंह ने जो निन्नी से विवाह किया है, वह भी तो नीची जाति की है। पुजारी का उत्तर होता है :

"वह राजा है। राजा देवता का अवतार होता है, वह कर सकता है। उसको सब सुहाता है। तुमलोग राजा नही हो। तुम्हारे लिए मना है।"

अटल अपने दृढ निश्चय और उस परम्परागत नियम को न मानने की बात कहता है। पुजारी उसके सामाजिक बहिष्कार की धमकी देता है। कहता है :

"फिर गाँव का कोई भी नर-नारी तुम्हारे हाथ का भरा-हुआ पानी नही पीयेगा। तुमको छूएगा तक नही, बोलचाल-कामकाज सब बन्द हो जाएगा।"

वर्मा जी को सामन्तवर्ग के पतित प्रेम-व्यापारो पर भी घृणा ही घृणा थी। उनका कोई उपन्यास नही, जहाँ राजा-महाराजाओ द्वारा नारी-अपहरण मे दिखाये गये पराक्रमो की खिल्ली न उडायी गयी हो। **'गढ़ कुण्डार'** मे नागदेव अपने लोगो को हुक्म देता है :

"हेमवती को जैसे बने तैसे अमावस्या की रात को बस्ती मे उठाकर किले मे लाना होगा, चाहे एक लक्ष प्राणो का बलिदान भी इस काम मे क्यो न हो।"

'विराटा की पद्मिनी' मे राजा नायकसिंह कुमुद की सुन्दरता के बारे मे सुनते है। अगले ही क्षण उनका हुक्म होता है : "उसे हमारे डेरे पर भिजवा दो लोचनसिंह, हम उसकी रक्षा करेगे।"

वर्मा जी तो इस विषय मे **'मृगनयनी'** के राजा मानसिंह को भी क्षमा नही देते, जिन्हे उन्होंने एक आदर्श राजा माना। विवाह के बाद मृगनयनी को पता चलता है कि राजा मानसिंह के आठ रानियाँ पहले से है, वह अब नवी होगी। किन्तु परिपाटी थी, इसलिए उसे असाधारण नही लगा। फिर भी मानसिंह जब प्रेम जताता हे तब वह मन ही मन सोचती जरूर है :

"इन्होने जब पहली स्त्री से विवाह किया होगा तब उससे भी इसी तरह प्रेमालाप करते होगे ! फिर दूसरा, फिर तीसरा, और आठवा ब्याह किया। हर रानी के साथ आरम्भ मे इसी तरह की चिकनी और मीठी बातें की होगी। क्या मेरे साथ सदा ऐसा ही बरताव करेगे या किसी दसवी के साथ विवाह करेगे और मुझसे ऐसे बरतेगे जैसे इन आठ के साथ आजकल बरत रहे है।"

वर्मा जी ने अपने उपन्यासो मे इस सचाई को बार-बार उभारा है कि सामान्तवाद का अध-पतन ही भारतीय समाज के क्षय के लिए उत्तरदायी था। झाँसी की रानी के पति राजा गगाधर राव शक्तिशाली अग्रेजो के आगे तो मान-मर्यादा बिसारकर शीश नवाये रहते, जबकि छोटे-छोटे सामन्त लोग इनके आगे माथा टेकते तो गर्व से फूल-फूल उठते! तॉत्या टोपे रानी से कहते है :

"राजाओं को अपने अधीनस्थ सामन्तों और प्रजाजन से प्रणाम लेने मे चरम सुख का अनुभव होता है, जबकि वे स्वय लाम-विलास और सुरा-पान में ही व्यस्त रहते है।"

राजा गगाधर राव भी ऐसे ही थे। ऊपर से भयकर अत्याचारी भी। सामान्य अपराधो के लिए भी बड़ा कठोर दण्ड देते। किसी को बिच्छुओ से भरे गढे मे डलवा देते, कोई चोरी करता तो उसके हाथ कटवा दिये जाते, और किसी नीच जाति ने कही जनेऊ डाल लिया तो उसके अगुआ को पकड़वा कर गर्म सलाखो से दाग दिया जाता।

राजा गगाधर राव का शासन आतक और सत्रास का शासन था। सारी प्रजा विमुख हो चुकी थी। उनकी मृत्यु के उपरान्त रानी लक्ष्मीबाई समस्त प्रजा-जन को अपना बना सकी तो अपनी प्रेमभावना से। यही एकमात्र कारण था कि 1857 के स्वतन्त्रता सग्राम मे समूची प्रजा एक होकर उनके लिए लडी। सामन्ती मूर्खताएं उसमें नही आयी तो क्यो? वर्मा जी स्पष्ट उत्तर है: इसलिए कि वे एक अकिंचन ब्राह्मण-कन्या थी। औरो की तो दशा यह थी कि यह युद्ध अपने चरम पर था और रानी के समर्थन मे जो राजे और नवाब लड रहे थे—वे यह इच्छा व्यक्त करते है कि जाते-जाते शिविर मे जूहीबाई का नाच ही देख ले। तात्या टोपे और रानी को आघात तो लगा, पर यह सोचकर उनकी इच्छा को टाला नही कि इसी बात पर कही साथ छोडकर न चल दे।

ऐसे अधोगत शासक सामन्त वर्ग से वर्मा जी प्रणीत उस जन सामान्य का चित्रण सर्वथा विपरीत है—जो सचमुच ही मानव-मूल्यो का आगार है। इस सन्दर्भ मे 'गढ़ कुण्डार' का अन्तिम दृश्य भूलेगा नही। बुन्देले और खगार युद्ध मे गुँथे हुए है। अग्निदत्त बुन्देलो की ओर से लड़ रहा है। अकस्मात् कानो मे 'किसी स्त्री का करुण आह सुन' पडती है। वह देखता है कोई स्त्री प्रसव-पीड़ा मे छटपटा रही है। कहती है: "मुझे मारो मत, मेरे आभूषण ले लो। म गर्भवती हूं और मेरे स्वामी न जाने कहा है।" अग्निदत्त पहचान लेता है कि यह तो उसी की प्रेमिका मानवती है। जिसकी दुर्दशा के लिए वह स्वय उत्तर-दायी था। स्त्री की पीड़ा बढती चली जाती है। अग्निदत्त कवच और कपडे नीचे बिछाकर प्रसव मे सहारा देता है। तभी अपने बुन्देला सैनिको के साथ सामन्त दलपतिसिंह आ पहुँचता है और देखते ही आदेश देता है: "मारो इस खगार स्त्री को और उतार लो सब आभूषण!"

अग्निदत्त खड़ा होकर दलपति को ललकारता है और घायल हो जाता है। वर्मा जी यहाँ बड़ा काव्यमय चित्र खीचते है:

"उसके गोरे-सॉवले शरीर पर घावो से रक्त, रेखाओं मे बहकर

फैल गया था। छिटकी हुई चाँदनी मे उसका चमकता हुआ खड्ग और दमकता हुआ लोहू-लुहान शरीर ऐसा मालूम पडा जैसे कोई तारा पृथ्वी पर टूटकर गिरा हो !"

दलपति अपने उस सैनिक को पहचान लेता है, फिर भी अडा रहता है कि 'स्त्री के गहने लेकर ही जाऊँगा।' किन्तु अन्त मे वह अग्निदत्त के हाथो मारा जाता है। मगर घायल यह भी बहुत होता है। दुर्ग पास ही था, उधर बुन्देलों के जयघोष हो रहे थे, इधर एक स्त्री और उसके नवजात की प्राणरक्षा मे एक सैनिक दम तोड रहा था ! वर्मा जी इस प्रकार सामान्य जन की मनुष्यता और सामन्तो की अमानुषता को एक दूसरे के विरुद्ध मूर्त रूप प्रदान करते है।

वर्मा जी के उपन्यासो मे काम-काजी सामान्य जनवर्ग सदा मानवीय गरिमा का द्योतन करता मिलता है। शासको का लम्पट और कामुक जीवन इन्हे नही भाता। इन्हें तो अपने नैतिक मानदण्डो की श्रेष्ठता का एक वर्ग भी रहता है। '**टूटे काँटे**' मे राजदरबार की नर्तकी नूरबाई एक सामान्य व्यक्ति मोहन को प्यार करने लगती है। एक दिन सोने की चमक-दमक के प्रति मोहन के आकर्षण को भाँपकर नूरबाई सामन्ती दासता का अन्तिम अवशेष—अपनी जडाऊ करधनी यमुना मे फेक कर कहती है .

> "सोने और हीरो के इन टुकड़ो की कहानी कितनी गन्दी रहती है, तुम नही जानते ! अब यह बतलाओ कि तुम नापाक नूरबाई को चाहते हो, जो क़ब्र मे गाडी जा चुकी, या इस धुली-धुलाई सरूपा को—जो सामने खडी है ?" और मोहन के रुँधे कण्ठ से निकलता है : "सरूपा को !"
>
> और इस प्रकार उस नर्तकी को जो नाम स्वयं दिया था, उसे यथार्थता प्रदान करता है।

'**मृगनयनी**' मे भी उच्च वर्ण का अटल और निम्न वर्ण की लाखी पति-पत्नी बनने का निश्चय करते है। विवाह-सस्कार के नाम पर दोनो केवल शपथ-बद्ध होते है। वह भी मुक्त आकाश तले ' जहाँ कोई और उपस्थित नही ! अटल कह उठता है कि गाँव के लोग अगर गाँव छोडने के लिए बाध्य करेंगे तो दोनो निन्नी बहन के यहाँ ग्वालियर जा बसेंगे। जिसका कुछ ही दिन पहले राजा के साथ ब्याह हुआ है। लाखी सुनते ही झिड़क देती है। कहती है .

> "कोई मुझको यदि किसी की चेरी कहे, चाहे वह मेरी ननद ही क्यो न हो, तो मै नहीं सह सकूँगी; और न यही सह सकूँगी कि तुमको राजा का दास या रोटियारा कहे। हम लोगो को भगवान् ने भुजाओ में बल दिया है और काम करने की लगन। कुछ करके ही ग्वालियर चलेगे।"
>
> लाखी उत्साह बँधाती है . "यह ससार बहुत बडा है। कमर कसकर

कूद पडो। कही अच्छी जगह चलकर अपना काम देखे। इन बेईमानो से क्या डरना।"

"टूटे काँटे' मे धर्म को लेकर मोहन के मुँह से एक बडी व्यंग्योक्ति पर उतनी ही सगत बात कहलायी गयी है। बात निकलने पर उसके मुँह से निकलता है

"धरम का भी क्या ! धनी के घर मे भाँग का गोला, निर्धन के घर वही मेहनत और पसीना !"

वस्तुत शासक वर्ग के लिए धर्म का एक ही उपयोग रहा है कि लोकसमाज को एक न होने दे और अपने अधिकार को अधिकाधिक सुदृढ करे। वर्मा जी ने, जहाँ भी हिन्दू-मुसलिम सम्बन्धो का प्रसग आया है, इस बात को पूरे जोर के साथ कहा है।

'सोली आग' उपन्यास का कथानक ही उन घटनाओं पर आधारित है, जो 1729 मे दिल्ली के दगो के रूप मे भड़क उठे। इसमे उन्होने दिखाया है कि किसी प्रकार प्रकार मुस्लिम अभिजात वर्ग का एक कट्टर प्रतिक्रियावादी अग मुस्लिम जनता की धर्मान्धता को इस उद्देश्य से उकसाता है कि अपने ही सहधर्मियो के उस दूसरे अग के साथ भिड पडे, जिसके प्रति हिन्दू 'अभिजात वर्ग' की सहानुभूति रही आयी है। मुस्लिम दूकानदार प्रतिक्रियावादियों को समर्थन देते है, किन्तु दगो से इन्हे क्षति पहुँचती है। तब इनकी आँखें खुलती हैं

"बेकार ही इतनी खून-खराबी हुई ! कितने लोगो की जाने गयी ? उनसे ज्यादा तादाद उन घायलों की है, जो अबतक कराह रहे हैं · दूकानदारी का नुकसान अलग हुआ। ''·· वजीर के आदमियो ने हम लोगो को अपने हाथ का खिलौना बना डाला। ··आगे कभी किसी बड़े आदमी या बडे आदमियों के गिरोह का कठपुतला बनकर बवाल मे नही पड़ेगे। हम लोगो को बेवकूफ़ बनाकर असली फायदा ये बड़े आदमी उठाते है।"

वैसे मुगलकालीन धर्मान्धता आज की साम्प्रदायिकता से बिल्कुल भिन्न थी। उन दिनों हिन्दू और मुस्लिम शासको मे होते युद्धो के कारण साधारण जनवर्ग अलग-अलग हिन्दू और मुस्लिम खेमो मे नही बँट जाता था, हर कोई अपने-अपने क्षेत्र के प्रति वफादारी के आधार पर बँटते थे फिर दल चाहे दो हो या अधिक। (आगे चलकर क्षेत्रीयता की यही भावना राष्ट्रीयता का रूप ले उठी।(हिन्दू राजे बिना हिचक मुसलमान सेनापतियो और शासन-अधिकारियो पर भरोसा करते थे, और इसी तरह मुस्लिम बादशाह अपने हिन्दू-सेनापतियो और राज्य के अधिकारियों पर। **'माधवजी सिन्धिया'** उपन्यास मे मुस्लिम सेनानायक इब्राहीम गारदी अपनी सेना सहित हिन्दू पेशवा के लिए युद्ध करता है। अन्त मे क्रूर अफगान सरदार अहमदशाह अब्दाली के हाथो पड जाता है।

अब्दाली इस शर्त पर क्षमा देने को तैयार है कि वह तौबः कर ले। गारदी यह स्वीकार नहीं करता। अब्दाली उसे इस्लाम और खुदा का 'वास्ता' देकर अपने रास्ते पर लाना चाहता है। कहता है :

"अच्छा हम तुमको तौबः करने के लिए वक्त देते हैं। तौबः कर लोगे तो हम तुमको छोड़ देंगे और अपनी फौज में अच्छी-सी नौकरी भी देंगे। तुम फिरंगी तरीके पर हमारी फौज के कुछ दस्ते तैयार करो।

घायल इब्राहीम के होंठों पर "एक रानीझीनी हँसी आ जाती है और वह कहता है "अगर छूट पाऊँ तो पूना में ही फिर पलटनें तैयार करूँ और फिर इसी पानीपत के मैदान में उन अरमानों को निकालूँ, जिनको निकाल नहीं पाया।"

अब्दाली उसकी एक बाँह काटने का हुक्म देता है, फिर दूसरी; मगर गारदी उस नृशंस के आगे सिर नहीं झुकता। यहाँ संघर्ष वास्तव में दो धर्म-समुदायों में नहीं, पीडक और पीडितों में है। 'टूटे काँटे' के देहाती किसान पत्ना रोनी के मुँह से निकलता है :

"इन कानूनगोओं, जमादारों और सिपाहियों का मिटानेवाला नहीं पैदा होता कोई ? जैसा कन्हैया ने कंस को मिटाया।"

इसी उपन्यास में राजे-नवाबों के जुल्मों की मारी जनता की विद्रोह भावना मोहन के कण्ठ में फूटती है।

"इतना ऊधम, इतना अत्याचार कि जिसका ठिकाना नहीं! मन चाहता है कि बहुत से अच्छे दृढ़ और पक्के चाल-चलन के लोगों को इकट्ठा करूँ और इन सबका नाश कर दूँ।"

स्पष्ट ही, वर्मा जी आज के सम्प्रदायवादियों की व्याख्या से सहमत नहीं जो समूचे ही मुगल-काल को हिन्दू-मुस्लिम धर्मों के युद्ध का काल मानते हैं। इनके लिए मुस्लिम शासक एक विदेशी सत्ता के द्योतक हैं, जो हिन्दुओं पर प्रभुत्व चाहते थे, और हिन्दू शासकवर्ग का संघर्ष अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए था। वर्मा जी इस मान्यता को ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर अस्वीकार करते हैं, जिनसे प्रकट होता है कि हिन्दू और मुस्लिम शासकों के बीच जब युद्ध होते रहते तब भी जनता इन्हें साम्प्रदायिक युद्ध नहीं गिनती। उसके लिए ये केवल दो राज्यों के युद्ध होते, जिनमें हिन्दू और मुस्लिम प्रजा अपने-अपने राज्य की ओर से समान वफ़ादारी और उत्साह के साथ जूझती। उदाहरण के लिए, 'झाँसी की रानी' में साधारण जनता ही कहती मिलती है :

"हमारी फूट ने हमें खा लिया। नहीं तो क्या मुगल, पठान, राजपूत, मराठा वगैरह के एक होते ये (अंग्रेज) एक घड़ी भी हिन्दुस्तान में ठहर सकते थे ?"

"ये बनिया बनकर आये थे और अब ठाकुर बनकर हमारे ऊपर शासन कर रहे है।"

"इन राजों और नवाबो ने ही सब चौपट किया।"

सारी जनता एक थी। एक ही उनका स्वर था। एक पठान से जब पूछा जाता है .

"तुम किस देश के हो खान ?" तो उसका उत्तर होता है

"क्यो, झाँसी हमारा देश है, और तुम्हारा ?"

"मै भी झाँसी का ही हूँ !

"तब तो हम भाई-भाई है, दोस्त !"

रानी का तोपची सरदार एक मुस्लिम है। एक-एक मुस्लिम सैनिक अपने इसी 'देश' के लिए उसी उत्साह के साथ युद्ध करता है, जिस उत्साह से कोई हिन्दू। जूही, मोतीबाई, खुदाबख्श, गौस खान और गुलमोहम्मद रानी को उतने ही प्यारे है जितने कि मुन्दर, मुन्दर, रघुनाथसिह, देशमुख और बख्शी।

वर्मा जी की सभी कहानियो का मूल अभिप्राय देशभक्ति ही रहा है। कथा-नायक और नायिका मातृभूमि के लिए प्राणो तक का होम करके ही गौरव के शिखर पर पहुँचते है। इससे प्रकट हो जाता है कि ब्रिटिश शासन से विमुक्ति के लिए राष्ट्रीय सघर्ष के प्रति वर्मा जी कितने गहरे तौर पर प्रतिबद्ध थे। उनके उपन्यासो मे दुष्ट चरित्रों की भूमिका ऐसों गद्दारों की रही, जिन्होने देश के साथ विश्वासघात किया, जाति-पाँति या धर्म के नाम पर समाज के टुकड़े होने दिये या गरीबो को सताया।

6

नारी के प्रति श्रद्धा-भाव

वृन्दावनलाल वर्मा के नारी-पात्र भारतीय साहित्य मे अद्वितीय है। जहाँ बाड्ला कथाकार शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय नारी की व्यथा-वेदना और करुण नियति के चित्रण मे बेजोड़ है, वहाँ वर्मा जी उसके उद्दाम प्रेम, आत्मोत्सर्ग की तत्परता और चरमशौर्य के मूर्तन मे। इनके नारी-पात्रो मे एक अपना व्यक्तित्व ही नही, साथ में अदम्य स्वाभिमान भी रहा करता है। वे जीती है पूर्णता के साथ और मृत्यु का वरण भी करती हैं, पूर्ण निर्भयता के साथ। उनकी दु:खान्त नियति पर आँखे तो भर ही आती है, अग-अग रोष से भी फडक उठता है।

नारी की कल्पना वर्मा जी जिस रूप में करते हैं, उसका आभास हेमवती की नागदेव द्वारा की गयी कल्पना से मिल सकता है : "कोमल अग है, उछलती हुई बड़ी-बडी आँखे, कुन्दन-सा रंग है, गरबीली ठोड़ी···सीधी नाक ··और हाथ में तलवार और तीर-कमान।" क्या आश्चर्य यदि वर्मा जी अपने ऐतिहासिक उपन्यासों के लिए झाँसी की रानी, मृगनयनी, महारानी दुर्गावती, अहिल्याबाई और रामगढ की रानी जैसी ममिमामयी वीरागनाएँ चुनते है।

'महारानी दुर्गावती' मे जब रानी का प्रशासकीय कौशल प्रकट होता है तब राजा उनकी सराहना करते नही अघाते। गदेलियाँ हाथ मे लेकर कहते हैं: "इन कोमल ऊँगलियो मे वज्र की शक्ति और कठोरता! आँखो मे ऊषा की किरणो की मजुलता। होठो पर खिले कमल की मृदुल प्रेरणा!"

मुग़ल सेना नायक आसफ़ख़ाँ तो रानी की रण-चातुरी पर हक्का-बक्का रह जाता है जब वह साँझ के झुटपुटे मे थोड़े-से सैनिक लिये हुए दुर्ग से झपटती है और पाँच कोस दूर समूचे शिविर मे मार-काट मचा डालती है। वर्मा जी इस घटना का वर्णन करते हुए मानो कवि हो उठे हैं :"

"सिर पर रानी केसरिया साफा बाँधे थी। सोने की कलगी, मोरपख

के आकार की। हरे, लाल, नीले, पीले रत्नों से जड़ी हुई कलगी बिल्कुल मोरपंख लग रही थी। मूँगिया रंग के वस्त्रों पर लोहे का जालीदार कवच था। छाती पर गले की रक्षा के लिए फौलादी तवे। धनुष-बाण पीठ पर, कमर में तलवार जयकार का नारा उन्होंने हाथ के संकेत से वर्णित कर दिया था, परन्तु रवि-रश्मियाँ नहीं मान रही थी। सूक्ष्मदर्शी आँखों को चमका-चमका देती थी और कलगी को अपनी दमक भेंट कर रही थी।"

इसी प्रकार दुर्गावती के चरित्र का सबसे अधिक प्रभावी पक्ष है, उनका जातिवाद के प्रति खुला अवज्ञा भाव। पिता कालिंजर-नरेश कीर्तिसिंह, हुमायूँ के आक्रमण का खटका देखते हुए, मन ही मन सोचते अवश्य हैं कि पड़ोस के शक्ति-सम्पन्न गोंडवाना राज्य के साथ सम्बन्ध जुड़ सके तो अच्छा। पर जातिगत भेद-भावों की अटक को दबा नहीं पाते और गोंड-नरेश दलपतिशाह के साथ सामान्य सम्पर्क तक बचाते हैं। दुर्गावती यह निश्चय करती है कि विवाह दलपतिशाह से ही करेगी, और परम्पराओं की अवहेलना कर स्वयं पत्र द्वारा गोंड नरेश को अपनी इच्छा से अवगत कराती है। उसका प्रस्ताव तो यहाँ तक है कि वही गोंड राजधानी आकर दलपतिशाह का वरण कर लेगी, क्योंकि पिता के जाति-संकोच के कारण कालिंजर में विवाह-कार्य सम्पन्न हो नहीं सकेगा।

वर्मा जी की नारी, सनातन भारतीय नारी से भिन्न निरी निश्चेष्ट प्रेमिका नहीं हुआ करती। शील-संकोच और आज्ञापालन आदि सब भारतीय नारी के पारम्परिक आभूषण हैं। वर्मा जी की ललनाएँ तो भिन्न भूमि की रही हैं। उस बुन्देलखण्ड की धरती की, पूर्व-सामन्त-काल की परम्पराओं के प्रति उनमें गहरी ललक होती है जैसी कि जनजातियों या कबीलों में होती है।

वर्मा जी के प्रारम्भिक उपन्यासों में प्रेम-पीड़ित नारी भी जातिबन्धन को तोड़ती नहीं। किन्तु यह इसलिए नहीं कि उसमें साहस की कमी है, बल्कि इसलिए कि अपनी जाति के प्रति उसमें एक गर्व का भाव रहता है। इसके लिए वे अपना सब कुछ, प्रेम तक, उत्सर्ग कर देती है। 'गढ कुण्डार' में बुन्देले ठाकुर की कन्या हेमवती, खंगार सामन्त नागदेव के प्रणय-प्रस्ताव को स्वीकार नहीं करती, क्योंकि खंगार अपेक्षया निचली जाति के हैं। परिणाम होता है युद्ध और खंगारों का विनाश। इसी उपन्यास में कायस्थ दिवाकर और ब्राह्मण कन्या तारा परस्पर प्रेम करते हैं। दिवाकर को तारा एक फूलमाला भेंट करती है जिसमें चार अक्षर, गुँथे हुए हैं. "मेरे देव!" किन्तु वर्ण-व्यवस्था की अवज्ञा करके वह उसके साथ विवाह नहीं कर पाती। वह दिवाकर को बन्दीगृह से निकालती किन्तु प्रेम को साकार रूप देने के लिए नहीं, स्वयं सन्यास ग्रहण करने के लिए।

कचनार' की नायिका कचनार रानी कलावती की दासी मात्र है। राजा

दलीपसिंह सोचता है, उसे दासियो के साथ छूट लेने का अधिकार है। कचनार इसका अवसर नही देती। कुछ दिन बाद दलीपसिंह घोड़े से गिरता है और सुध-बुध खो बैठता है। छोटा भाई मानसिंह उसी अवस्था मे उसे विष खिला देता है और वह मृत समझ लिया जाता है। सहसा ओला-पानी आता है और शव को जहाँ का तहाँ छोडकर सब तितर-बितर हो जाते हैं। उधर से कही गुसाइ साधुओ की एक मण्डली निकलती है। ये दलीपसिंह को उठाकर ले जाते है। दलीपसिंह की सज्ञा तो लौट आती है, परन्तु स्मरण-शक्ति खोयी ही रहती है। उधर मानसिंह का राजतिलक और कलावती से विवाह सम्पन्न होता है। कचनार राजमहल से चली जाती है और पुरुष-वेष धरकर कचनपुरी नाम से गुसाइयो के उसी आश्रम मे रहने लगती है। वहा दलीपसिंह की मन से सेवा करती है। अचानक दलीपसिंह को फिर चोट लगती है। इससे स्मरण-शक्ति लौट आती है। दलीपसिंह तत्काल राजधानी पहुँचकर अपना राज्य प्राप्त करता है, कचनार को रानी बनाता है, और भाई एव कलावती को क्षमा कर देता है। निर्धन दासी होते भी कचनार कितने ऊँचे चरित्र की निकलती है। सामन्त कुल की कन्या कलावती की अपेक्षा उसका चरित्र अधिक निखर उठता है!

वृन्दावनलाल वर्मा के प्राय: प्रत्येक उपन्यास मे उभर-उभरकर यही तथ्य आता है कि 'सामन्त कुलो की नारियो में' किसान मजदूर वर्ग की बेटिया कही श्रेष्ठ है। **'मृगनयनी'** की मृगनयनी को ही लें, जो गाँव के एक निर्धन गूजर परिवार मे जनमी है। घर का नाम है निन्नी, सुन्दर तो है ही, साहसी और निडर भी है। लाखी उसकी प्रिय सहेली है, ठीक उसी जैसी। निन्नी का मन है कि उसका भाई अटल, जाति-भेद को भूलकर, लाखी से ब्याह कर ले। लाखी अहीर बिरादरी की है, जिसे गूजरो से नीचा माना जाता है। लाखी से निन्नी कहती है: "हम-तुम दोनो निर्धन है। दोनो एक जैसे। तुम्हारी सम्पदा तुम्हारी माँ है, मेरी मेरा भाई। तुम मेरी और उनकी होकर रहोगी। अच्छा ही लगेगा, लाखी!"

लाखी को मन मे यह सन्देह है कि ये गूजर लोग उसके ब्याह को स्वीकार करेंगे या नही! गाँववाले क्या कहेंगे! पर निन्नी अडिग बनी रहती है 'गाँववाले कहासुनी करेंगे तो नदी ऊपर किसी दूसरे डूँगर-जगल मे चले जायेंगे; परन्तु तुमको अपनी भौजी बनाने की साध को तो पूरा करके ही छोडूँगी।"

विद्रोह का भाव भी वर्मा जी के उपन्यासो मे विविध रूपों मे प्रकट होता है। **'झाँसी की रानी'** मे उच्च गोत्रीय ब्राह्मण नारायण शास्त्री निम्न जातीय छोटी से प्रेम करते हैं। एक दिन दोनों भीतर होते है कि पास-पडोसी बाहर से साँकल चढा देते है। छोटी कहती है:

"आप मेरी चिन्ता छोड़ें। किसी तरह अपने को बचावें। मुझको चाहे मारकर घर के कुएं में डाल दें। कह दें कि छोटी यहाँ आयी ही नहीं।"

नारायण शास्त्री दृढ़ बने रहते हैं .

क्या कहती है छोटी ! अब सब उघड़ गया। राजा के सामने जाना पड़ेगा। मैं चाहता हूँ कि तुम्हारा बाल-बाँका न हो। कह देना कि शास्त्री ने जबरदस्ती की। मैं वैसे भी मारा जाऊँगा। तुम इस तरह बच जाओगी।"

पर छोटी सच्ची और निष्कपट है। वह गर्व के साथ कहती है—

"कभी नहीं, अगर हमारी जात में कोई गुण है तो एक यही कि हमलोग बेईमानी कभी नहीं कर सकते।"

नारायण शास्त्री का जाति से भी निकाला होता है, देश से भी।

'टूटे काँटे' में एक सीधी-सादी, पर उग्र स्वभाव की, जाट स्त्री है। नाम है रोनी। कह-सुनकर अपने पति मोहनलाल को खेत पर भेजती है। फसल काटकर तत्काल घर में छिपा नहीं दी जाती तो समन्तों के आदमी ढो ले जायेंगे। पति और देवर को जली-कटी सुनाती है · "हाय राम ! हाय भगवान् कैसा खोटा है मेरा भाग ! कहाँ पटक दिया है गाँववालों ने मुझे ! आग लग जाये गाँव-भर में ! छाती जल जाये उन निपूतों की।"

और जब दोनों भाई हँसियाँ लेकर जाने लगते हैं तब ऊपर से डंक मारती है .

"ओहो, बड़ा भारी खेत है न जैसे ! उस छोटी-सी टुकड़ी के अनाज को मैं अकेली काटकर दिखला सकती हूँ। तुम दो मर्दों से इतना भी न बनेगा।"

उसे गरीबी की मार ने बहुत ही रूखा और कठोर बना दिया है। रात से कुछ भी पेट में नहीं गया। जो थोड़ा जुटा पायी, दोनों भाइयों-भर का भी न था। इसीलिए मोहन को राजा की सेना में भी जाने को ठेला। दो महीने बाद ही सुन लेती है कि मोहन कहीं मुगलों और मराठों की लड़ाई में मारा गया। रोनी बिल्कुल बदल जाती है। देवर को अब सेना में नहीं जाने देती। सामन्ती अत्याचारों तले लड़खड़ाते हुए भी कहती है :

"जी मत छोड़ो·· यहाँ गुजर न होती दिखेगी तो और कहीं चले जायेंगे...भरतपुर, डीग, कहीं भी, जहाँ यह सत्यानाशी राज न होगा। जहाँ हमारे सरीखे जाट होंगे।"

और काम की खोज में देवर-भौजी निकलते भी हैं। मगर भ्रम टूटता है और दोनों लौट आते हैं। लाचारी में रोनी अब डाकू बनने को सोचने लगती है। क्यों न सोचे ? आखिर ये बड़े-बड़े राजे-महाराजे और हैं भी क्या ?

"कौन हैं ये बड़े घरानोंवाले ! दिल्ली का बादशाह, सुनती हूँ,

हजारो औरते रखे है, जिनके ऊपर लाखो-करोडो के गहने है। ये स
और इनके नौकर-चाकर दिन-रात गुड़-घी मे कुलाटे मारते रहते है। जब
बादशाह ने दिल्ली का राज बनाया होगा तब क्या उसने उस राज को
किसी से मोल लिया होगा ? अपने यहा के बदनसिह ने राज को कैसे पैदा
किया ? कैसे बढाया ?"

क्षीण स्वर से तोता बोला 'सब भाग की बात होती है भौजी ?" रोनी पलटकर कहती है "नैक तुम भी अपने भाग को लौटो-पलटो !"

बार-बार इसी प्रकार उसके सुनाने पर अन्त को तोता ठकैनों का एक दल खडा करता है। यही वह उपाय है, जो अत्याचार का सामना करने लिए हमारा किसान वर्ग युगो से करता आया है, और यही हैं जिनने रोनी जैसे चरित्रों को पैदा किया। वर्मा जी ने इनका बडा विशद चित्रण प्रस्तुत किया है।

वास्तव मे, राजमहिलाओ की तुलना मे वर्मा जी की सामान्य नारी वीरता की दृष्टि से अधिक विशिष्ट और गरिमापूर्ण उतरती है। 'मृगनयनी' की लाखी ने अपने बचपन की सहेली निन्नी—जो बाद मे ग्वालियर की महारानी मृगनयनी बनी, से बाण चलाना सीखा था। आगे चलकर—वह उससे कही अधिक सूरमा और युद्ध-कला मे निपुण निकलती है। नरवर दुर्ग की रक्षा के समय उसे ही यह नयी बात सूझती है और वही यह आग्रह बाँधती है कि छापामार युद्ध की नीति अपनाकर रात के अँधेरे मे छोटी-छोटी टुकडियाँ जाये और शत्रु के शिविर पर इधर-उधर से अचानक धावा बोल दे। लाखी का पति अटल उसके सुझाव को मजाक मे उडा देता है :' 'तुम क्या जानो ! अँधेरे मे दुश्मन की टुकडियो पर कैसे हमला किया जा सकता है ? किले की दीवारो के पीछे से वार करना अच्छा रहता है।" लाखी एक नही सुनती और यह दिखाकर ही दम लेती है कि उसकी युक्ति कितनी व्यावहारिक और काम की रही। वह स्वय रात मे युद्ध करते हुए दुश्मन के हाथों वीरगति को प्राप्त होती है। इतना ही नहीं, दम तोडते-तोडते भी दुश्मन के एक सैनिक के टुकडे कर जाती है।

सकट की घड़ी मे लाखी की बुद्धि और पैनी हो उठती है। उसे और मृगनयनी को पकडने के लिए तुर्क सैनिक आते है तो उसमे से एक सैनिक के बख्तरबन्द की छेदो से झाँकती आँखो पर वह अपने तीर का निशाना साधती है। इनसे निबटते ही वह विश्वासघातन पिल्ली नटिनी की ओर बढती है, जो दुर्ग की रक्षा-योजना शत्रु को बताने के लिए खाई पर से रस्से की राह जा रही थी। लाखी लपककर रस्सी का एक सिरा काट देती है। विश्वासघातन खाई मे गिरकर ढेर हो जाती है। झाँसी की रानी या रानी दुर्गावती से ही नही, लाखी किसी भी राजमहिला या सामरिक परम्परावली नारी से बडी सहजता से

होड ले सकती है ।

'झाँसी की रानी' मे भी शत्रु से आमने-सामने लोहा लेनेवाली अकेली लक्ष्मीबाई ही नही, कई और नारियाँ भी है। हिन्दू वर्ण-व्यवस्था ने उन सभी समुदायो को— विशेषकर उन निम्नजातियों की अवहेलना की है—पर इनमें से हरएक अवसर के अनुरूप सिद्ध होती है । इनसे ही झलकारी दुलैया भी है, जो जाति से बुनकर जुलहन है पर अपने को सहज मन प्रस्तुत कर देती है कि रानी के छद्म वेश मे शत्रु-शिविर मे जायेगी ताकि रानी इस बीच सुरक्षित स्थान तक पहुँच सके। यह दुर्योग ही था कि विश्वासघाती दूल्हाजू वहाँ बैठा था और योजना विफल रही। झलकारी पकडी जाती है। वर्मा जी ने इस वीर नारी के चरित्र-चित्रण की ऐसी कोमल रग-रेखाएँ दी हैं कि मन पर छाप बनी रहती है। उसकी बुन्देलखण्डी बोली तो रानी को ही नही, पाठको को भी मुग्ध कर लेती है ।

गद्दार दूल्हाजू को शत्रु मिलता है, एक महिला के रूप मे जब वह अग्रेजो के लिए झाँसी के क़िले का फाटक खोलने का प्रयत्न करता है तो उसको चुनौती मिलती है सुन्दर से, जो उस पर तलवार से हमला करती है। दूल्हाजू एक छड से वार झेलता है। तलवार टूट जाती है। मगर वह लडती रहती है, तब तक, जब तक कि वह एक ब्रिटिश सिपाही की गोली का शिकार नही हो जाती।

सचमुच, इन पराक्रमी नारियो के द्वारा झाँसी की रानी का गौरव दीप्ति से और भी मण्डित हुआ। लहू-लुहान मुस्लिम नर्तकी योद्धा मोती बाई की साँस रानी की गोद मे टूटती है। अपने मे यही घटना पूरी साक्षी है कि देश के प्रथम स्वतन्त्रता-सग्राम मे हिन्दू और मुसलमानो के रक्त एक साथ बहे थे । वर्मा जी अपने पाठक जगत् को चेष्टापूर्वक इस सन्देश से अवगत कराते है ।

वर्मा जी के सामाजिक उपन्यासो की युवा नारियाँ, अपनी प्रेम-भावना के लिए घुलती नही रहती। यहाँ तक कि जो परम्पराओ मे बहुत जकड़ी हुई हैं, वे भी समय पड़ने पर सारे बन्धनो को साहसपूर्वक झटक देती हैं । 'कुण्डली चक्र' उनके प्रारम्भिक उपन्यासो मे है। इसका नायक अजित मजनूँ बना डूँगर-घाटियो मे भटका करता है। किन्तु वह पहले की प्रणय-कथाओ के नायको की तरह न तो प्रेयसी के लिए रोता फिरता है, न अपने को बुलाता ही है। उसका कार्य-व्यवहार तपस्वियो जैसा चलता रहता है। उसकी प्रेयसी पूजा भी लैला नही बन सकती । वह जब देखती है कि घरवाले ही उसके प्राणो के साथ खिलवाड करने पर उतारू है, तो घर छोड़कर पहाडियों मे निकल जाती है। देवी के मन्दिर मे रोती-कलपती हैं :

"माँ, अनाथों का इस ससार मे कोई नही है। न सही, परन्तु तुम तो हो !" उसे अजित की याद आती है। भीतर ही भीतर खीजती है : "तुम

कायर हो ! आये और कुछ न कर सके ।…हाय, मैने चिट्ठी लिखकर बहुत बुरा किया । व्यर्थ अपनी लाज गँवायी ।"

मन्दिर मे अचानक दीया बलता देख अजित वहाँ पहुँचता है । पूजा के अन्तिम शब्द उसके कानो मे पड़ते है । अभिभूत होकर पुकार उठता है वह "पूजा …।" अँधेरे मे किसी की आवाज सुनने हो पूजा अचेत हो जाती है । अजित उसे सँभालता है और चलने के लिए कहता है ।

"मै अब कहाँ जाऊँ" पूजा धीरे से पूछती है ।

"तुम कहाँ जाना चाहती हो ?"

"कहाँ बतलाऊँ ! ससार मे कौन बैठा है मेरा ! इस जलराशि मे धकेल दो !"

"मै ! मै इसके लिए थोड़े ही आया था पूजा !"

"तब काहे के लिए आये थे ! मुझसे पूछते हो कि मै कहा जाऊँ … प्रतिज्ञा करो कि अपनी शरण से कभी दूर न करोगे ।"

'लगन' की नायिका रामा भी बडी दृढ़ प्रकृति की है । पिता पर्याप्त दहेज नही दे पाता इसलिए बारात लौट आती है । किन्तु देवसिंह को रामा से प्रेम है । वह उससे छिपकर मिलने आता है तो उसे भी अपनी ओर आकर्षित पाता है । एक दिन इसी प्रकार चोरी से आया होता है कि कोई पीछे से वार करता है और वह सीढ़ियो मे नीचे गिरकर घायल हो जाता है । पहचाने जाने पर रामा के परिवारवालो को बहुत खुशी होती है । रामा इस अनिश्चय मे कि पिता न जाने कैसा व्यवहार करे, सारा लाज-सकोच भुलाकर, पति के परिवारवालो को सूचित करने को दौड़ती है । चढी हुई बेतवा को पार करती है और ससुरालवालो को किसी तरह कुछ-कुछ बताती है ससुर अपनी बहू की साहसिकता से प्रभावित होकर पास-पडोसियों को गर्व के साथ पुकारता है :

"अरे, आओ रे भाई ! देखो कैसी हीरा-सी बहू आयी है! … देवसिंह लिवा लाया है । आज ससुराल मे है, कल को आ जायेगा । बदमाश ने बहू को अकेला ही पहुँचा दिया है । नदी तैरकर आयी है । दुबली-पतली है, परन्तु बडी वीर है !"

और बच्चों की तरह हिलक-हिलकर रोने लगता है । रामा की साहसिकता दो परिवारों के बीच आयी खाई को पाट देती है ।

'अचल मेरा कोई' उपन्यास 1948 मे प्रकाशित हुआ था । वर्मा जी ने जिस समस्या को यहाँ उठाया है, उस पर कितने ही लेखको ने अब तक उसपर विचार किया है । समस्या के अन्तर्गत मुख्यत: आते है एक ओर वे अन्तर्विरोध, जो यौन सम्बन्धो की पारम्परिक धारणाओं के क्रमिक क्षय से उपजे है, और दूसरी ओर वे नये मूल्य, जो नारी के बढ़ते स्वातन्त्र्य तथा पुरुष वर्ग के साथ उसके सम्पर्क-

विस्तार की देन है। इस उपन्यास मे भी निम्न मध्यवर्गीय कुन्ती, सम्पन्न घर की निशा से अधिक साहसी प्रमाणित होती है। दोनो दो राजनैतिक कार्यकर्त्ताओं, अचल और सुधाकर, के सम्पर्क मे आती है। दोनो ही अचल से संगीत सीखने लगती है। और स्वभावत उनमें परस्पर मधुर भाव उमग उठते है। कुन्ती का सुधाकर के साथ विवाह हो जाना है जबकि निशा का वही के एक अन्य युवक के साथ। अचल और कुन्ती मे बराबर भेंट होती रहती है। कुछ दिनो बाद निशा का पति साम्प्रदायिक दगे मे मारा जाता है। कुन्ती अचल को निशा के साथ विवाह कर लेने के लिए समझाती है। उसका मह्मत हो जाना इसे एक आन्तरिक सुख पहुँचाता है। इसके विपरीत, कुन्ती के अपने पति सुधाकर के मन मे ईर्ष्या और शकाएँ घर कर चलती है। विशेषकर वह जब देखता है कि अचल और कुन्ती अब प्रायः ही मिलते-भेटते है। सुधाकर का यह शका भाव कुन्ती को अन्त मे आत्महत्या के लिए विवश कर देता है। यह आत्महत्या कुन्ती की कायरता नही थी, वीरता थी। कभी अचल के लिए उसके मन मे प्यार उठा था। उसने आशा ऐसी अवश्य की थी कि सच्ची बनी रहने के लिए सुधाकर उसके प्रति कृतज्ञ होगा। किन्तु सुधाकर इसकी सच्चाई को देख नही पाता है। उल्टे शका ही करने लगता है। वह आत्महत्या करती है तो उसी के प्रति क्रोधोन्माद मे।

कुन्ती के विपरीत एक पात्र लाने के उद्देश्य से, वृन्दावनलाल वर्मा ने निशा जैसे का चरित्र सृजित किया है। निशा सयत स्वभाव की है। वह अपने और अपने पति के बीच एक सतुलन बनाये रखती है। इसीलिए सुखी और प्रसन्न रहती है। इस रचना की केन्द्रीय समस्या को प्रस्तुत करती है, कुन्ती और सुधाकर की जोड़ी और जिसका समाधान सुझाती है निशा-अचल की जोडी। निशा जानती है कि अचल उसकी अपेक्षा कुन्ती को अधिक महत्त्व देता रहा है इसीलिए वह कहती भी है -

> "तुमको यदि जीवन-सगिनी के रूप मे कुन्ती मिल जाती तो तुम बहुत सुखी रहते।"
>
> इस पर अचल का उत्तर होता है
>
> "सम्भव है। मै उसे चाहता भी रहा हूँ। तुमसे छिपाऊँगा नही। शायद तुमको मालूम भी हो। कह नही सकता मेरे और उसके समन्वय का क्या रूप होता। तुमको पाकर अब और कुछ पाने की इच्छा नही रही। मै बहुत सुखी हूँ।"

दोनो की पारस्परिक समझ का आधार है वास्तविकता का ठीक से अनुमान कर पाना। एक दिन निशा अचल से कहती है कि सुधाकर और कुन्ती के संबधो मे तनाव-सा आया लगता है। उत्तर मिलता है अचल का कि पति-पत्नी में कभी-

कभार ऐसा हो जाना अचरज की बात नहीं; "मेरे-तुम्हारे बीच भी हो सकता है।" निशा इसे असम्भव कहती है। अचल उसे समझाता है कि यह कैसे सम्भव हो सकता है :

"पहले तो देह की माँग को पूरा करने के लिए प्यार-दुलार की झड़ी लगा दी, फिर हुआ कुपच। या देह की माँग का आरम्भ से ही निरोध कर उठे, आत्मा या परमात्मा की उपासना में, जो बहुत कम सम्भव होना है। कोई भी अवस्था हो कि बस गृह-कलह छिड़ी। देह की माँगो और उनके निग्रह का समन्वय ही उस अनबन को असम्भव बना सकता है।"

यहाँ वर्मा जी ने जो साहसपूर्ण चित्रण किया है, वह अपने ऐतिहासिक अथवा ग्रामीण पृष्ठभूमिवाले उपन्यासो मे किये चित्रणो से भिन्न है। उनका आशय यही है कि दाम्पत्य जीवन मे यथार्थ साहस जीवन की वास्तविकताओ के साथ सामजस्य लाने मे रहना है, तनाव आने देने मे नही। वर्मा जी यथार्थ-वाद के पक्षधर है, कोरी भावुकता या स्वच्छन्दता के नही।

7

सामाजिक उत्तरदायित्व

वृन्दावनलाल वर्मा मे कलाकार के नाते अहम्मन्यता का भाव कभी नही आया। 'अपनी कहानी' मे वे कहते है : "मै कोई पुजारी, उपदेशक, पादरी या मुल्ला नही हूँ। परन्तु समाज के प्रति मेरा कुछ कर्तव्य अवश्य है। कलाकार को समाज और व्यक्ति के प्रति सदा उत्तरदायी रहना होता है।"

उनके मन मे देश की स्वतन्त्रता का प्रश्न सबसे प्रमुख था। इसमे कोई अत्युक्ति न होगी कि हाथ मे लेखनी उन्होने ली ही इसलिए कि देश के स्वतन्त्रता सघर्ष मे अपना योगदान सम्मिलित कर सके। उन्होने बुन्देलखण्ड के इतिहास और लोकगाथाओ से ऐसे ही कथा-प्रसंग चुने, जो मानव-मन मे तीव्र देशप्रेम और संघर्ष की भावना जगा सके। उनके उपन्यासो के इस पक्ष पर काफी-कुछ कहा जा चुका है। यहाँ इतना ही और कहना है कि गाँधी जी की इस अवधारणा को वर्मा जी नही मान सके कि अहिंसा को भी, एक सत्य के रूप मे, सभी परिस्थितियो में लागू किया जा सकता है। इस विषय को उन्होने बार-बार उठाया है, विशेषकर 'देवगढ़ की मुसकान' में। यह उपन्यास लगता है, देवगढ के जैन मन्दिरो के अवशेषो से प्रेरित होकर ही लिखा गया है। कथानक मे निम्नजातीय स्त्रियों और पुरुषो का एक दल जैन धर्म को अगीकार करता है। अनुष्ठान स्वय सम्राट की उपस्थिति में होता है। इस दल के ही एक सदस्य बुद्धा, ने विनती की है कि उन सबको जैन धर्म मे दीक्षित कर लिया जाये। इस पर मुनि महाराज प्रसन्न भाव से कहते है :

"हाँ, सभी मानव बराबरी के है। हो जाओ जैनधर्म के पालन करनेवाले। हिंसा छोडनी पडेगी।"

बुद्धा का उत्तर होता है : "छोड़ देंगे महाराज, हम खेती-पाती करेंगे। पर यदि कोई हमे सताने आ जाये तो?"

सम्राट् बोल उठते हैं : "अहिंसा शूरवीर का अलंकार है, कायर

का कलक है। सतानेवाले के लिए अपना धनुष-बाण और खड्ग और दृढता के साथ हाथ मे ले लो। ठीक कहा है न मुनि महाराज ?"

मुनिश्री सहमति मे मुसकरा देते है। सम्राट् स्वयं बन्दियो के मृत्युदण्ड को आजीवन कारादण्ड मे बदलकर अहिसा धर्म का पालन करते है। उनके प्रसग में वीरता का यह एक यशस्कर कार्य होता है।

देश के स्वतन्त्रता सघर्ष की एक बड़ी महामारी थी हिन्दू-मुस्लिम मतभेद। वृन्दावनलाल वर्मा ने एक भी अवसर चूके बिना यहाँ की सभी बडी जातियो में एकता की आवश्यकता पर बल दिया और दिखाया कि जन-साधारण मे तो धार्मिक भेदभाव थे ही नही। वस्तुत विदेशी शासकों ने यहाँ के आपसी पूर्वाग्रहो का लाभ उठाया और कलह की सर्जना कर अपना स्वार्थ साधा। **'झाँसी की रानी'** मे स्वतन्त्रता-सग्राम छिडने पर हिन्दू और मुस्लिम रक्त एक होकर बहते है। रानी के साथ विश्वासघात भी करता है तो एक हिन्दू मुसलमान नही, जबकि झाँसी के मुसलमानो को अपनी ओर फाड लेने की किसी जुगत को अँग्रेजो ने बाक़ी नही रखा। **'टूटे काँटे'** मे भी शुवराती एक मुसलमान ही है, जो मराठो के प्रति वफ़ादार बना रहता है और हिन्दू सैनिक मोहनलाल से उसकी गाढी मित्रता बनी रहती है।

वर्मा जी के सामाजिक उपन्यास **प्रत्यागत** मे एक हिन्दू कुछ काल के लिए मुसलमान बन जाता है। घर लौटता है तो प्रायश्चित्त कर लेने पर भी बिरादरी उसे स्वीकार नही करती। परम्परावादी हिन्दुओ के लिए वह अछूत हो चुका, पर प्रगतिशील युवावर्ग उसे अपनाता है और समाज द्वारा बिलगाव के प्रयत्नों से पार पाने की चेष्टा करता है। इसी प्रसग मे वर्मा जी ने निम्न कुल मे उत्पन्न एक व्यक्ति से आमना-सामना कराकर उच्च जातियो के नैतिक मानदण्डो के निरतर छीजते हुए प्रसंग को उघेडा है। यह व्यक्ति है हरीराम, कथा-नायक का अनुचर। इसे भी बिरादरी से बाहर कर दिया गया है : क्योंकि यह उस जाति-बहिष्कृत उच्चवर्णी की सेवा-टहल में लगा रहता है। हरीराम इस सबकी चिन्ता नही करता। कहता है :

> "मेरा उन ससुरों ने क्या बिगाड लिया ? मुझे कौन लड़के-लडकी ब्याहना है। मैने तो अपनी जाति के कुछ पचो से अभी-अभी कहा है कि तुमने मुझे बिरादरी से अलग नही किया, बल्कि मैने तुम लोगो को जात से खारिज किया।"

बिरादरी मे फिर से प्रवेश पाने के लिये उसे प्रायश्चित्त के नाम पर पचो को केवल खिला-पिला देना होता। किन्तु वह साफ नाही कर देता है। कहता है :

"महाराज, मैं शराब नही पीता, और न अपने पचो को खुश करने के लिए मेरे पास दो रुपये फ़ालतू है।"

उपन्यास भर मे सबसे अच्छा और विशिष्ट चरित्र हरीराम ही है।

हिन्दू समाज के जाति और बिरादरी-गत अवरोधो से उत्पन्न मानवी समस्याओ को वर्मा जी के उपन्यासो मे यत्र तत्र उठाया गया है। इनका स्वरूप सचमुच बहुत ही विस्तृत और बहुरगी है। एक ओर आते है ऐसे भी चरित्र, जिन्हे अपनी जातीयता का यथार्थ मे गर्व है, तो दूसरी ओर ऐसे भी, जो सभी वर्जनाओ को साहसपूर्वक अमान्य ठहराते हैं। दोनो ध्रुवों के बीच आते है वे भीरु-प्रेमी युगल, जो अपने अवरोधो को उलाँघ नही पाते। इस कट्टर जाति-प्रथा से उन बच्चों की समस्या उठ खडी होती है, जो जन्म से सकर और अवैध है, ज्यादातर अवैध ही।

वर्मा जी के सामाजिक उपन्यास **'संगम'** मे रामचरण ऐसी ही सन्तान है, जिसके पिता है पण्डित सुखलाल और माँ उनकी अहीर रखैल। पिता धर्ना है, पर रामचरण अपनी स्कूल मास्टरी मे मगन है। अलग ही रहता है। एक दिन, अपनी नौकरानी गगा के साथ शहर जाते हुए, सुखलाल पर कुछ डाकू आक्रमण करते है। सब उसे मारा गया मान लेते है। रामचरण पिता की सम्पत्ति हथियाने के सन्देह मे पकड़ा जाता है। सुखलाल की बेटी, राजावेटी, विधवा है और पिता के पास ही रहती है। इनका एक सम्बन्धी भिखारीलाल, सारी सम्पत्ति के अपने भाग को राजावेटी के पक्ष मे त्याग देता है, ताकि उसे कष्ट न होने पाये।

उधर सुखलाल को कुछ जाने-परचे लोगो का डाकू दल मुक्त करा देता है और अदालत मे चलता सम्पत्ति का विवाद तथा रामचरण पर कथित हत्या का आरोप आदि के सारे मामले शान्त हो जाते है। रामचरण का ऐसा आत्म-विलोपी आचरण देखकर सुखलाल बहुत प्रभावित होता है। वह अब अपनी सारी सम्पत्ति वैध बेटी राजावेटी और अवैध बेटे राम चरण मे बाँट देता है। वृन्दावनलाल वर्मा ने रामचरण जैसे चरित्र को आगे लाकर उच्च वर्णों की इस मूल धारणा पर आघात किया है कि अवैध सन्तान सदा अल्पबुद्धि और कुटिल हुआ करती है। यहाँ ध्यान देने की बात इतनी ही है कि उपन्यास के सारे धूर्त चरित्र उच्च वर्णो के है; जबकि रामचरण जन्म से अवैध होता हुआ भी नेक और सदाचारी बना रहता है : साथ ही उन सबसे कही ऊँचा, जो ऊँची जाति मे जन्म लेने के कारण सामाजिक मान-सम्मान के अधिकारी बनना चाहते है।

'लगन' में वर्मा जी दहेज प्रथा के प्रश्न को उठाया है; जिसके कारण देश के लाखो युगल अपने सुखी और शान्तिपूर्ण जीवन से वचित रह जाते है। उन्होने

इस बात पर बल दिया है कि युवक और युवती वर्ग स्वयं ही इस समस्या का समाधान प्रस्तुत करें। उन्हें इस कुप्रथा को समूल नष्ट करना होगा, जिसने उनका जीवन विनष्ट कर दिया है।

एक अन्य सामाजिक उपन्यास **'प्रेम की भेंट'** में वर्मा जी एक बाल-विधवा की त्रासदी से परिचित कराते है। यह विधवा है उजियारी, जो समवयस्क युवक धीरज से प्रेम करती है। किन्तु उसे धीरज से कोई प्रतिदान नही मिलता क्योकि वह प्रचलित रूढि के बन्धनो मे जकड़ा है। वह एक अन्य युवती से प्रेम करने लगता है। उजियारी बदला लेने की भावना से उस युवती को विष देने का प्रयत्न करती है। किन्तु वह विष-युक्त भोजन धीरज के खाने मे आता है और उसका प्राणान्त हो जाता है। इस प्रकार, विधवाओ के प्रति वर्मा जी का सहानुभूतिपरक भाव सन्दिग्ध बना रह जाता है। त्रासदी जितनी उजियारी को भोगनी पड़ती है, उतनी ही उस समाज को—जो एक युवती को अपने सहज प्रेम के अधिकार से वंचित रखता है।

'अचल मेरा कोई' में वर्मा जी एक विधवा को पुनर्विवाह का अवसर देकर इसी समस्या का एक सकारात्मक समाधान प्रस्तुत करते है। **'प्रेम की भेंट'** के समाधान को भी निरा नकारात्मक नही ही कहा जा सकता। वर्मा जी ने स्पष्ट यही किया है कि अपने स्वाभाविक आवेगो को सन्तुष्ट कर पाने के अधिकार से वंचित हो जाने पर एक विधवा का स्वभाव किस प्रकार विकृत हो जाता है।

8

आदर्श और यथार्थ

लेखन के साथ-साथ वर्मा जी का चिन्तन निरन्तर विकसित होता चला गया है। आरम्भ में उन पर परम्पराओं का प्रभाव था। लेखन का प्रेरणा-मूल था, मनुष्य के रचे हुए उन विधि-विधानों की त्रासदी का सज्ञान, जो पुराने हो चुके थे। समय के साथ परम्पराओं की सीमाएँ, पीछे छूटी और समस्या के समाधान हेतु उनकी विचार-दृष्टि प्रगतिशील हो चली।

वर्माजी अनीश्वरवादी नहीं थे। उनकी मान्यता थी कि एक सर्वोच्च शक्ति है अवश्य, जैसा कि 'अपनी कहानी' में स्पष्ट उन्होंने किया है :

> "यह महाशक्ति, जिसे हम परमात्मा कहते है, इतनी सूक्ष्मरूप है और हमारी साधारण बुद्धि इतनी स्थूल है कि योग इत्यादि के द्वारा ही उसके दर्शन हो सकते है।"

वर्मा जी इस पक्ष में थे कि भगवान् के प्रति श्रद्धा और विश्वास रखना तो आवश्यक समझें, "परन्तु अन्ध-विश्वासों से बचे रहें।" वर्मा जी ने अन्धविश्वासों का सामना सर्वप्रथम 'विराटा की पद्मिनी' में किया था। यहाँ कुमुद नाम की एक युवती है, जिसे गाव के लोग भगवती दुर्गा का अवतार समझते है। स्वय कुमुद जानती है कि यह सत्य नहीं, वह तो देवी की सकल मात्र है। किन्तु भोले गाँववालों का अन्धविश्वास दूर करने मे असमर्थ रहती है। परिवार को इससे कुछ आर्थिक लाभ भी होता रहता है। किन्तु पवित्रता का दिखावा बनाये रखने के लिए कुमुद को कुजर के प्रति अपने प्रेमभाव का भी दमन करना पड़ता है। कथानक के अन्त में, यह प्रकट होता है, जब वह एक सामान्य स्त्री की नाई नदी मे कूदकर प्राणत्याग करने का निश्चय कर लेती है और प्रेमी के आगे अपने को समर्पित कर देती है। जो भी हो अन्धविश्वास ही इस उपन्यास का मुख्य विषय नहीं। वर्मा जी ने इस कृति मे सामन्त वर्ग की उन निष्फल चेष्टाओं का वर्णन किया है, जो उस रूपसी 'भगवती' पर काबू पा जाने के लिए उन्होंने कीं।

अन्धविश्वासों और दैवी शक्तियों के प्रति, वर्मा जी अपने परवर्ती उपन्यासो मे और भी दो-टूक हो गये हैं। 'अहिल्याबाई' उपन्यास मे अहिल्याबाई कहती है :

> "दान-पुण्य, होम-हवन, जप-तप सब व्यर्थ हो गया। मेरा पुत्र गया ! दौहित्र, दामाद और पुत्री का अन्त हुआ ! मै अब और क्या देखने के लिए बची हुई हूँ ! कोई आड़े न आया। भजन-पूजन सब असफल ! ये जितने अन्धविश्वास हैं, सब व्यापक भय के कारण उत्पन्न हुए है। देवी को जीभ काटकर चढाना, मुक्ति के नाम पर पहाड़ी पर से गिरकर आत्म-हत्या करना, खरगौन के चबूतरे-खम्भे और फरसे का पूजन, देवताओ के आगे पशुओ का बलिदान ! ओह, न जाने कितने घोर कर्म धर्म के नाम पर किये जा रहे है।···अन्धविश्वासों को भय ही जन्म देता है. मै सब प्रकार के भयो से लड़ूंगी।"

ये भी एक स्त्री के शब्द है, जिसे प्रजा ने देवी का प्रतिरूप मान लिया था। परन्तु 'विराटा की पद्मिनी' वाली कुमुद से ! वह कितनी भिन्न है, यही प्रत्यक्ष हो आती है और इस अतराल में लेखक की अपनी विकास-यात्रा भी !

साहित्य का सिद्धान्त या दर्शन पक्ष का निरूपण वृन्दावनलाल वर्मा के लिए कभी महत्त्वपूर्ण नही रहा। न ही उन्होने इतिहास का ही कोई सुसगत दर्शन विकसित करने का प्रयत्न किया, यद्यपि उपन्यासो की सामग्री जुटाने-जाँचने मे भारतीय इतिहास का व्यापक अध्ययन उन्हे अनिवार्यत. करना पड़ा। उनके प्रगतिशील विचारो का विकास भारतीय स्वतन्त्रता के सघर्ष काल मे आयी व्यापक जाग्रति के अन्तर्गत हुआ। अपने समय के सर्वश्रेष्ठ को उन्होने आत्मसात् किया, और उसीका निरूपण अपनी कृतियो मे दिया। एक अवसर पर, इलाहाबाद विश्वविद्यालय मे उनसे पूछा गया था .

> "आज तक आपने जो कुछ लिखा है उसे एक वाक्य मे बतायेंगे ?

उनका उत्तर था :

> "मैंने इतिहास को कला के चौखटे मे जड़ने का प्रयत्न किया है।"

फिर यह पूछे जाने पर कि वे आदर्शवादी है या यथार्थवादी, उन्होने बताया .

> "यथार्थ है घोड़ा, और आदर्श उसका सवार। सवार इस प्रकार घोड़े को चलावे कि घोड़ा अड़े नही और न दुलत्ती झाड़े। अच्छे निर्दिष्ट स्थान पर घोड़े को ले जाये, खाई-खड्डो से बरकाता हुआ, कीचड़ और गन्दगी मे घोड़े को डूबने से बचाता हुआ। अकेला घोड़ा कुछ नही, अकेला सवार बेकार। मेरा वाद तो यह है।"

वर्मा जी ने ठीक ही कहा था। लेखक यथार्थ की व्याख्या अपने विचार

र्शो की सतरगिनी के ही माध्यम से करता है। इस प्रश्न को लेकर रूसी का दीना गोल्दमान से उनका बड़ा रोचक पत्र-व्यवहार हुआ था। इन्होने जी के कई उपन्यासो का रूसी मे अनुवाद भी किया था। अपने एक पत्र न्होंने वर्मा जी को लिखा था (दीना गोल्दमान के अपने शब्दो मे) ·

"आपने जो उपमा दी है, उसको मैं उलटा करूँ : आदर्श है एक चचल पखवाला घोडा और यथार्थ है उसकी लगाम।

पखवाला घोडा मेरी कल्पना की उपज नही, वह रूसी और चीनी लोककथाओ मे प्रायः आता है। और साथ ही, उसके बहुत से चित्र बनाये जाते है।

मेरी बातों की सच्चाई का अच्छा प्रमाण आपकी रचनाएँ हैं। एक उदाहरण लीजिए : नूरबाई। वह कभी जीवित रही थी या नहीं, इसका कोई भी महत्त्व नही है और न इस बात मे पुस्तक की सत्य यथार्थ और ऐतिहासिकता है। महत्त्व इस बात है कि भारत मे उस समय ऐसी नारी का अस्तित्व सम्भव था या नही। डा रामविलास शर्मा के विचार से सहमत होते हुए मेरा उत्तर होगा : हाँ, सम्भव था। और फिर उपन्यास मे उस काल का वातावरण भी यथार्थपरक ढग मे चित्रित है, कल्पित या भ्रमजनक नही। अत उपन्यास ऐतिहासिक है, बस यह सब काफी है, यही यथार्थ है। फिर उपन्यास मे कल्पना का जो मेल है तो उसका होना बिल्कुल अनिवार्य है। अगर उपन्यास में कल्पना नही होती तो कलात्मक और वैज्ञानिक पुस्तकों मे कैसा फर्क पडेगा। कल्पना मे कोई आदर्श नही है, आदर्शवाद बिल्कुल दूसरी बात मे है। बिना कल्पना के कला का अस्तित्व सम्भव नहीं है। उस परिभाषा मे एक आन्तरिक विरोध है, जो उसको निरर्थक बनाता है। जो कलाकार अपनी रचनाओ मे जीवन का दृढ आधार खोकर या जानबूझकर छोड़कर आकाश मे उडता है और वहाँ अपनी कल्पना के पखो से बादलों के बीच फरफराता तैरता है— वह आदर्शवादी है। उसकी कृतियाँ भी कभी आकर्षक हो सकती है, लेकिन लोगो के लिए उनकी न बडी आवश्यकता है न विशेष रुचि। परन्तु यथार्थवादी भी जब अपनी कला में कल्पना का मेल देता है तो वही कल्पना का स्वतन्त्र खेल नहीं है वरन् उस पर कलाकार की विचारधारा, उसके दृष्टिकोण का प्रतिबिम्ब, छाप होती है।···यह ठीक है कि प्रत्येक कलाकार किसी एक पथ की ओर निर्देश करता है। महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि किस पथ की ओर वह निर्देश करता है? उत्तर केवल एक ही सकता है : या तो आगे या पीछे। है न? दोनो पथ आज अच्छी तरह ज्ञात है और हर एक आरम्भ से ही चुनने को मजबूर है।"

स्पष्ट ही दीना गोल्दमान यथार्थ और आदर्श की दार्शनिक परिभाषाओ के बारे मे सोच रही थी, और सम्भवत. उनके मन मे अपने सैद्धान्तिक लक्ष्य के प्रति विशेष उत्साह भी रहा। वर्मा जी मार्क्सवाद के विधिवत् अध्येता रहे बिना भी सामाजिक यथार्थ को भलीभाँति समझ सके थे। यो विद्यार्थी-काल मे मार्क्स की दो-एक पुस्तकें उन्होने पढी अवश्य थीं। वे उस काल के उन थोडे-से भारतीय बुद्धिजीवियो मे थे, जिन्होंने मार्क्स के लेखन के विषय मे सुना-जाना था। किन्तु उन्होंने मार्क्स का अध्ययन न भी किया होता तो भी सामान्य जन के प्रति हार्दिकता और शोषको के प्रति उनमें इतना अधिक जुगुप्सा थी कि भारतीय समाज के सामाजिक सम्बन्धो और मानवी स्थितियो को समझने की सही अन्तर्दृष्टि देने के लिए पर्याप्त होती। वे भारतीय समाज के वर्ग-सम्बन्धो और समाज के अध.पतन के मूल कारण के विषय मे वे कितने स्पष्ट थे, यह उन टिप्पणियो के दो उद्धरणो से ही देखा जा सकता है, जो उन्होंने चाणक्य [प्राय. चौथी शताब्दी ई० पू०] पर उपन्यास लिखने के लिए कही नोट किये थे। ये सब अंग्रेजी मे थे और सर्वप्रथम डॉ. रामविलास शर्मा द्वारा सम्पादित **'समालोचक'** के जनवरी 1959 के अक मे प्रकाशित हुए थे—

> "गरीबी की शिक्षा दी जाती थी, मन पर अकित कर-करके उसे आचरण का अग बनाया जाता और इस प्रकार बडी मात्रा मे धन की बचत की जाती। उस धनराशि का अधिक अच्छा उपयोग किया जा सकता था, परन्तु किया नही गया। इसी की देन थे, निष्क्रिय धनी समाज और विराट् सख्या मे निरा निर्धन जनवर्ग। परिणाम. भूमि और चल-सम्पत्ति पर स्वामित्व। युद्ध होने पर, जो प्राय. ही हुआ करते, अधिकाश निर्धनो के लिए केवल मालिक बदलते। इने-गिनों की शूरता आक्रमणो के सत्रास से रक्षा न कर पायी और अन्त को देश स्वतन्त्रता खो बैठा।"

उक्त टिप्पणी प्रकट है कि अपनी पीढी के उपन्यासकारो मे वर्मा जी उन विरलो मे से थे, जो वर्ग-सम्बन्धो और उनके परिणामो को स्पष्ट देख सके। यह भी वे समझ सके कि क्यो भारतीय सामन्तवाद देश को अंग्रेजों के हाथ खो बैठा। वर्मा जी की दृष्टि मे भारतीय दर्शन तक, जिसका तब बडा गुणगान किया जा रहा था—पुनरीक्षण किये जाने योग्य रहा। इसका आध्यात्मिक पक्ष तो कभी उन्हें प्रभावित न कर सका। वे कहते है :

> "निराशा का दर्शन बनाम जीवन का दर्शन। मठो का जीवन जीने के लिए इतने-इतने लोग दौडे : इस तथ्य से यही प्रमाणित होता है कि कहीं न कही जीवन के सिद्धान्त और उस काल के समाज की सरचना मे ही कोई अन्तर्जात दोष रहा।"

वृन्दावनलाल वर्मा वास्तव मे सामाजिक चेतना सम्पन्न अथवा, आज की भाषा में कहें तो, 'एक प्रतिबद्ध लेखक' थे। जो भी समस्याएँ उन्होंने प्रस्तुत की, सब सामान्य जन को सामने रखकर, शोषित वर्ग के दृष्टिकोण से ही, और समाधान भी उनके सामाजिक यथार्थ के अन्तर्गत ही खोजकर निकाले-सुझाये।

9

मृगनयनी

'झाँसी की रानी' वर्मा जी का प्रख्यात उपन्यास है, किन्तु उनका सर्वश्रेष्ठ उपन्यास **'मृगनयनी'** ही है। झाँसी की रानी मे उनका ध्यान इस ओर केन्द्रित रहा कि ब्रिटिश और भारतीय लेखकों द्वारा जो कलक उस अप्रतिम शूर और देशभक्त नारी पर लगाये गये, उनका निराकरण हो सके। परिणाम स्वरूप 'झाँसी की रानी' मे एक सृजेता लेखक के ऊपर उनका इतिहासज्ञ हावी रहा। 'मृगनयनी' मे मानसिह तोमर के राज्यकाल को फिर से जीवित करते समय ऐसी कोई विवशता सामने नही थी। सभी इतिहासज्ञ एकमत है कि तोमर वश के शासन-काल का स्वर्णयुग मानसिह का ही राज्यकाल (1486-1516 ई०) था। वर्मा जी ने अपनी पूरी यत्नशीलता के साथ उस काल की जाँच-परख की है। जैसाकि वर्मा जी स्वयं बताते है :

> "पन्द्रहवी शताब्दी के अन्त और सोलहवी के आरम्भ को, आर्थिक और राजनीतिक दृष्टियों से, भारतीय इतिहास का सबसे जटिल, कठिन और अन्धकारमय काल कहा जाये तो अत्युक्ति न होगा। उत्तर मे सिकन्दर लोदी और उसके सामन्तों का युद्ध, गुजरात मे महमूद बघर्रा की लूटपाट और रक्त की होली; राजस्थान मे पुत्र के द्वारा राणा कुम्भा को विष और उससे फूटी अराजकता, मालवा मे गयासुद्दीन खिलजी और उसके उत्तराधिकारी नसीरुद्दीन की बर्बरताएँ और बेलगाम कामाचार, दक्षिण में बहमनी और विजयनगर राज्यो के युद्ध और अन्त मे बहमनी राज्य के पाँच टुकड़े, जौनपुर और बिहार-बगाल मे पठानो की लूटमार और अग्निकाण्ड, और सबके बीच ग्वालियर पर भी सिकन्दर लोदी के पिता बहलोल के धावे, फिर तो सिकन्दर इसका नाश ही करने पर उतारू? पाँच बार हुमक-हुमककर उसने आक्रमण किया : पाँचों बार मानसिह तोमर के हाथो मुँह की खायी!···मानसिह को नीचा दिखाने के लिए ही आगरा पर अपने दुष्ट उद्देश्य में सफल फिर भी न हो सका

ग्वालियर का घेरा डालकर, राज्य के एक भाग नरवर पर धावा बोला। इसमे सहायक बना राजासिंह कछवाहा, जो नरवर पर अपना दावा करता आया। ग्यारह महीने तक जनता ने दोनो का सम्मिलित सामना किया। युद्ध से हाथ तब खीचा जब खाने के लिए घास का सूखा तिनका तक न रहा। छह महीने सिकन्दर की छावनी वहाँ रही : एक-एक मन्दिर, मूर्ति और कलाकृति की धूल-भर बची।''

मानसिंह तोमर लोककथा के नायक बन चुके थे। वह कला और मूर्तिशिल्प के बड़े प्रेमी थे। मान-मन्दिर और गूजरी महल उन्होने ही बनवाये और ग्वालियर की सगीतशाला भी स्थापित की। कहा जाता है, तानसेन ने संगीत की शिक्षा यही पायी। मानसिंह के इन कला-अभियानो मे उसकी रानी मृगनयनी सदा साझेदार रही। मृगनयनी क्षत्रिय कुल की नही थी, निम्न गूजर जाति की थी : जिनका मुख्य धन्धा गाय-भैंस पालना होता था। मृगनयनी का मूल नाम निन्नी था। मानसिंह उसके रूप-सौन्दर्य पर ही नहीं, बुद्धि और वाक्चातुरी पर भी मोहित हुए। नवी रानी होने भी, उनकी सबसे प्रिय यही थी। मानसिंह ने यह विवाह 1492 मे किया। अमर सगीत आचार्य बैजू बावरा मानसिंह की ही राज-सभा के एक रत्न थे। कहा जाता है, रानी मृगनयनी को प्रसन्न करने के लिए इन्होने कई राग-रागिनियो की रचना की, विशेषकर गूजरी टोडी और मगल गूजरी की।

वर्मा जी ने **'मृगनयनी'** के ऐतिहासिक ढाँचे मे दो प्रेमकथाएँ सँजोयी है। मानसिंह-मृगनयनी कथानक के साथ-साथ उसमें पिरोया हुआ अटल-लाखी प्रसग भी चलता है। अटल निन्नी का भाई है। और लाखी बाल-सहेली। लाखी निम्न अहीर जाति की कन्या है और निन्नी के परिवार पर ही आश्रित।

राई गॉव की ये दोनो बाल-सहेलियाँ अपनी वीरता और सुदरता के लिए पहले से ही सरनाम है। मालवा का गयासुद्दीन खिलजी और ग्वालियर का मानसिंह तोमर, दोनो ही इन रूपसियो को अपने महलो की रानी बनाने के लिए जाल रचते हैं। गयासुद्दीन उन्हें फुसला लाने के लिए नटी और नटो की एक टोली भेजता है। मानसिंह को राई के ही बोधन पडित परामर्श देते है कि वे स्वय जाकर उनके आगे प्रस्ताव रखें। मानसिंह निन्नी पर मुग्ध रह जाते है और मृगनयनी नाम से उसे रानी बनाते है। लाखी और अटल को भी ग्वालियर आ जाने का सन्देश भेजा जाता है। अटल इसके लिए तैयार हो जाता है, पर लाखी का स्वाभिमान उसे रोक लेता है।

बोधन पण्डित ने मानसिंह और मृगनयनी का तो विवाह करा दिया, पर अटल और लाखी को ना कर दिया और बताया कि शास्त्रो मे अन्तर्जातीय विवाह का विधान नही है। यह भी कहा कि मानसिंह की बात और थी- राजा

को शास्त्र ने विशेष सुविधा दी है कि चाहे जितने और चाहे जिस जाति मे विवाह करे। धर्म के नाम पर चलती ऐसी अन्यायपूर्ण समाज-व्यवस्था पर अटल और लाखी मे विद्रोह जागता है। भगवान् को साक्षी मानकर दोनो चुपचाप विवाह कर लेते हे और, निन्नी-लाखी को बहका लाने के लिए, गयासुद्दीन द्वारा भेजी हुई नटो की टोली मे जा मिलते हैं।

चन्देरी के सामन्त राजा राजसिंह कछवाहा का नरवर पिछले ही युद्ध मे ग्वालियर राज्य मे मिला लिया गया था। उसे फिर से प्राप्त करने के राजसिंह कभी से जोड़-तोड लडा रहा था। ग्वालियर की सैन्य-शक्ति और दुर्ग की रक्षा योजना का पता लगाने के लिए वह संगीताचार्य बैजू बावरा को मानसिंह की राजसभा मे भेजता है। आचार्य की शिष्या, और राजसिंह की प्रेयसी कला भी उनके साथ जाती है। वहाँ राजा मानसिंह का संगीत-प्रेम देखकर बैजू महाराज ऐसे अभिभूत होते है कि आने का उद्देश्य ही भूल रहते है।

इस बीच गयासुद्दीन का सहारा पाकर राजसिंह ग्वालियर पर आक्रमण करते है। अटल-लाखी सहित नटो की टोली वहाँ पहुंची हुई है। टोली की सरदार पिल्ली नटिन इस अवसर को भगवान का दिया वरदान मानती हैं। वह यह समझती है गयासुद्दीन के हाथों सौंपकर मुँहमाँगा इनाम पा सकेगी। वह लाखी को वहाँ के सब्जबाग दिखाती है। लाखी उसे झिड़क देती है। बातो-बातो मे उसे यह आभास मिलता है कि यहाँ के भेद देने के लिए रात अँधेरे मे यह टोली दुर्ग से निकलकर उधर जायेगी। लाखी खाई पर इनके बाँधे हुए रस्से को काटकर सारी योजना ही विफल कर देती है। इसी बीच सेना सहित मानसिंह आ पहुँचते हैं यह सुनते ही कि दुर्ग की रक्षा एक स्त्री की सहायता सभव हो सकी, वे तत्काल समझ लेते है कि वह स्त्री और कोई नही, उनकी प्रिय रानी मृगनयनी की प्रियतम सहेली लाखी ही होगी। गले से माला उतारकर लाखी को उपहार स्वरूप प्रदान करते है और अटल और लाखी से ग्वालियर चलने का अनुरोध करते हैं।

मानसिंह राइ मे दुर्ग का निर्माण कराते हैं और अटल और लाखी को उसकी रक्षा का भार सौप देते है। इस बीच सिकन्दर लोदी आक्रमण करता है और दोनो दुर्ग की रक्षा करते मारे जाते है। आक्रमण भी विफल रहता है। सिकन्दर फिर आक्रमण करता है। मानसिंह यहाँ सिकन्दर से भिडे होते है तभी गयासुद्दीन नरवर पर धावा बोलता है। नरवर की सेना को ग्वालियर से रसद नही पहुँचती और एक वर्ष के निरतर सग्राम के बाद, बचे हुए नरवरी क्रूर भूख से विवश होकर हथियार डाल देते है. गयासुद्दीन समूचे नगर को मिट्टी में मिला देता है और कला और स्थापत्य की अमूल्य निधियों को नष्ट कर देता है। राजसिंह को नरवर नही, नरवर के खंडहर मिलते हैं।

लौटने पर गयासुद्दीन को उसी का बेटा विष दे देता है। गुजरात का शासक बघर्रा भी मर चुका होता है। सिकन्दर ग्वालियर की मुहिम से लौट जाता है और कुछ ही दिनों बाद काल का ग्रास बनता है। एक युग बाद जैसे अब आकर ग्वालियर को चैन की सांस मिलती है।

मृगनयनी के दो बेटे होते हैं। पर मानसिंह की बड़ी रानी, सुमन मोहिनी के पहले से ही एक बेटा था। राजगद्दी पर कौन बैठे ? समस्या का समाधान मृगनयनी प्रस्तुत करती है। वह एक पत्र मानसिंह को लिखती है और दूसरा सुमन मोहिनी को। दोनों में ही वह इस बात की घोषणा करती है कि राज्य के उत्तराधिकारी के रूप में वह सबसे बड़ी रानी के पुत्र विक्रमादित्य को मान्यता देती है।

मृगनयनी का यह आत्मत्याग मानसिंह को भौचक कर देता है। वह रानी के इस निर्णय का कारण जानना चाहते हैं। मृगनयनी दो ही शब्द कहती है: "कर्तव्य था।" दोनों मौन हो रहते हैं। दोनों की आँखें सामने दीवार पर टँगी लाखी की उस माला पर जा टिकती है और उनकी आँखें छलछला उठती हैं। दोनों एक-दूसरे को देखते हैं। आँखें फिर माला पर जा टँगती हैं: वही जैसे स्मारक हो लाखी और उन अनगिनत वीरों का, जो अपने राजा और रानी के गौरव को महिमामण्डित कर विस्मृति में विलीन हो रहे। उपन्यास यहीं समाप्त हो जाता है।

इस संक्षिप्त रूपरेखा से यह उजागर हो जाता है कि उपन्यास के वास्तविक नायक-नायिका मानसिंह और मृगनयनी नहीं, अटल और लाखी हैं। दोनों ही राजदम्पति की तुलना में हर दृष्टि से बढ़े-चढ़े निकलते हैं। वह चाहे एक-दूसरे के लिए प्रेम की उत्कटता हो, चाहे अन्यायपूर्ण सामाजिक और धार्मिक प्रतिबन्धों के विरुद्ध संघर्ष, और चाहे अपनी कर्त्तव्यपरायणता के लिए चरम उत्सर्ग। लाखी की पात्रता अटल से भी बढ़कर प्रमाणित होती है। दोनों जब गाँव त्यागने का निश्चय करते हैं तब अटल को ग्वालियर जाने की सूझती है लेकिन लाखी का आत्मसम्मान वहाँ की सोचने भी नहीं देता। राजा का संरक्षण और वहाँ की सुख-सुविधाएँ उसके लिए कोई अर्थ नहीं रखतीं। आगे चलकर मानसिंह जब स्वयं दोनों को नरवर की रक्षा में जुटा हुआ पाते हैं, तब वे उन्हें ग्वालियर चलने के लिए सहमत करते हैं। इस समय भी अटल की उत्सुकता ही लाखी को बाध्य करती है। लाखी वहाँ जाती है अवश्य, पर शर्तें रखकर! अटल वहाँ के राजसी ठाट-बाट में खो चलता है; मगर लाखी को वह सब नहीं भाता और अपनी जन्म-भू राई के नये दुर्ग का सुरक्षा भार लेकर लौट आती है। सच तो यह कि लाखी मृगनयनी तक पर छा जाती है: भले ही उसका नाम इस उपन्यास का शीर्षक बना और शुरू के कई अध्याय

लेखक ने उसी को केन्द्रित कर लिखे। जब तक वह निन्नी रहती है, लाखी का लोक जीवन के प्रति अनुराग इसकी भी साँसो मे बसा रहता है, ग्वालियर की रानी बनने के बाद सब कुछ जैसे बिसर ही जाता है। अब तो वह सगीत मे रमी रहती है, या ललित-कलाओं की सरक्षिका बन जाती है।

मृगनयनी का निर्माण करने में वर्मा जी ने कोई जतन उठा नही रखा, पर उन्हीं के चुने हुए ससार का भीतरी तर्क, मानो अजाने ही, लाखी के कुछ विशेष गुणों से पूर उठता है फलतः लाखी मृगनयनी मे श्रेष्ठ उतरती है। मृगनयनी के चरित्र को तो आकृति, बहुत कुछ, रानी बनकर ग्वालियर आने के बाद राजा मानसिह की खराद पर मिली। इससे भिन्न, लाखी ने अपना चरित्र जन-जीवन की भट्टी मे गल-तपकर स्वयं गढा। मृगनयनी का मानसिह के प्रति प्रेम उसकी पराक्रम गाथाओ पर आधारित है; जब कि लाखी का इस सामाजिक सत्य पर टिका है कि उसके लिए अटल ने सभी समाज-गत मर्यादाओ को एकबारगी लाँघने का साहस किया। बाद को अटल मे कुछ दुर्बलताएँ जगी अवश्य, जो सामन्ती व्यवस्था से जुडी हुई थी, किन्तु लाखी इन सभी से सर्वथा अनछुई बनी रहती है। राई के दुर्ग की रक्षा मे प्राणों तक का विसर्जन करके तो लाखी उन शिखरो तक जा पहुँचती है, जिन्हे उपन्यास का कोई और चरित्र छू भी नही पाता। अटल से उसके अन्तिम शब्द हैं: "देखो, मेरे बाद अपनी जात मे ब्याह कर लेना।" शब्दो के भीतर से झलक आती है बीते बरसो की समूची विडम्बना, जो जातिवाद को चुनौती देकर लाखी और अटल ने भोगी। लाखी मुक्त हो गयी, कुछ दिनो बाद अटल भी युद्ध मे खेत होकर रह जाता है।

चन्देरी के सामन्त राजा राजसिंह की प्रेमिका कला अपने संगीत को बिसरा देती है और उसकी भेदिया बनकर ग्वालियर चल देती है। मानसिह के अधिकार मे गये नरवर पर फिर से अधिकार पा सकना—यह कोई मामूली बात नही थी लेकिन प्रेमी का सौपा हुआ दायित्व कला को पूरा करना ही था। गयासुद्दीन का सहारा सुलभ हुआ और राजसिह की मुराद पूरी हो गयी। नरवर मिला तो मगर खँडहर। गयासुद्दीन के बर्बर आक्रमण से वहाँ की कलापूर्ण सम्पत्ति ध्वस्त हो गयी। राजसिह गयासुद्दीन की तबाही को रोकने मे असमर्थ रहा। यही नहीं, उसकी अपनी सत्ता की भूख चुकने मे नही आती। कला विरक्त होकर अपना सगीत प्रेम लिये सदा के लिए चली जाती है। स्पष्ट है कि यहाँ वर्मा जी ने पुरुष की अपेक्षा नारी को अधिक महत्त्व दिया है।

किन्तु सब मिलाकर, कला का प्रसग बहुत युक्तिसगत नही बैठता। जो कला एक दिन अपने प्रेमी का काज साधने के लिए सगीत तक को एक तरफ कर प्राणो को जोखिम मे डालती है, अपने गुरु बैजू बावरा की भर्त्सना यह कहकर करती है कि राजसभा के सगीत में बहककर ग्वालियर आने का उद्देश्य

हो भुला बैठे ; वही कला अपने प्रेमी को तिलाजलि दे फिर सगीत को अपनाने चले : यह ग्राह्य नही लगता। लेखक ने उसे अपने प्रेमी पर भी विजय प्राप्त करते हुए दिखाया होता तो वह कही अधिक उपयुक्त होता। राजसिंह से वचन तो वह ले ही सकती थी कि वह नरवर की विनष्ट कीर्ति को फिर से प्रतिष्ठित करेगा। यह भी सच है कि उसने कई नये राजभवन बनवाये, जिनके अवशेष आज भी खडे है। सम्भवत. नरवर के कला-भण्डारो का विनाश वर्मा जी को इतना आघात पहुँच गया कि राजसिह के चरित्र पर से उनका नियंत्रण ही शिथिल हो गया। फिर तो यथार्थवादी चरित्र-प्रस्तुति पर या बेहतर हो यदि यो कहें, आदर्शवादी यथार्थ पर भावनात्मक कल्पनाशीलता हावी हो गयी।

उपन्यास के उपप्रधान चरित्रो मे पण्डित बोधन शास्त्री और विजय जगम कुछ विशेष उल्लेखनीय है। दोनों समाज की दो प्रवृत्तियो का प्रतिनिधित्व करते है. एक प्रतिक्रियावादी है दूसरा प्रगतिशील। बोधन पण्डित उत्कट रुढिवादी है। वे मानसिह और मृगनयनी का विवाह करा देते हैं किन्तु अटल और लाखी पर अनुग्रह करने को तैयार नही। मानसिह से वे कितनी चिरौरी करते है कि उनके राईवाले मन्दिर को ठीक करा दे। पर कोई फल नही होता। मानसिह का बिना सकोच उत्तर होता है : "पहले कुएँ-बावलियाँ, तालाब और नहरों का काम करा लूं, फिर मन्दिर को देखूंगा।" आगे चलकर बोधन पण्डित का स्वभाव कुछ नरम पड़ जाता है वे अधिक दिन जीवित भी नही रहते। एक धर्मान्ध के ही हाथों उनकी हत्या होनी है।

विजय जगम कर्नाटक का है, लिंगायत सम्प्रदायी, जो किसी प्रकार मानसिह का अनुग्रह प्राप्त कर लेता है। वह दरबार मे एक उग्र सुधारवादी की भूमिका निबाहता है। वह हिन्दू वर्ण-व्यवस्था का विरोध ही नही करता, श्रमिक जन के सम्मान का भी आग्रही है। राजा मानसिह के रुझान मे आयी प्रगतिशीलता का प्रेरणा-स्रोत भी यही था।

उपन्यास में बुन्देलखण्ड के प्राकृतिक सौन्दर्य के बडे-बडे चित्रात्मक वर्णन है। बुन्देलखण्डी शब्दो और बोली-मुहावरो का तो इतना प्रचुर उपयोग किया गया है कि लेखक को कही-कही उनका भाव पाद-टिप्पणियो मे स्पष्ट करना पड़ा है। महत्त्व की बात यह कि बोली की मिलावट पाठक को कही भटकाती नही, वलिक अपनी अनुगूज से किसी आनन्द लहरी का सचार होता है।

'मृगनयनी' मे उपन्यासगत वे सभी विशिष्टताएँ देखने को मिलती है, जिनके लिए वर्मा जी ख्यात है। जैसे : ऐतिहासिक प्रामाणिकता, सुगठित कथानक, आकर्षक वर्णन, सशक्त चरित्रांकन, विशिष्ट सवाद, और एक समूचे बीते युग की विशद, प्रगतिशील छवि। यह रचना उनकी प्रौढ़ लेखनी का शिखर है।

10

प्रविधि

वृन्दावनलाल वर्मा की रचनाओं को अक्सर 'रोमान्स' की संज्ञा दी जाती है। मध्य युग के प्रारम्भिक काल मे तो किसी भी ऐसी काल्पनिक कथा को, भले ही वह अलौकिक विषय की हो, रोमान्स कहा जाता था, जिसमे उदार-वीरोचित कार्यों का वर्णन किया गया हो। ये रचनाएँ प्रारम्भ मे पद्य रूप मे हुआ करती थी जो बाद मे गद्य में लिखी जाने लगी। सोलहवी-सत्रहवी शताब्दियो मे ऐसी कोई भी रचना, जिसकी विषय-वस्तु, वास्तविक जीवन से भिन्न, चाहे कुछ भी रहे और जिसका एक अपना घटना स्थल हो, रोमान्स मानी जाती थी। सर फिलिप सिडनी की **'आर्केडिया'** ऐसी ही रचना थी। इसे उन्होंने अपनी बहन के मनोरंजनार्थ लिखा था। इस प्रकार, ऐसी प्रत्येक रचना को रोमान्स माना जाने लगा, जिसके चरित्र और घटनाएँ, कम-अधिक मात्रा मे अवास्तविक हों। सर हेनरी राइडर हैगर्ड ने ऐसे कई रोमान्स लिखे, जिनमे **'किंग सॉलमन्स माइन्स'** (1886) और **'शी'** [1889] को उदाहरण-स्वरूप रखा जा सकता है।

तब फिर वर्मा जी के उपन्यासो को रोमान्स क्यो कहा गया? शायद इसलिए कि उनमे प्रेम, शौर्य और साहसिकता का वर्णन रहता है। पर तब एक महत्त्वपूर्ण अन्तर भी है। उनके कथानकों मे ऐसा कुछ नही, जो असम्भाव्य या अलौकिक हो। विपरीत इसके, वर्मा जी के कथानक सदा वास्तविक होते है और ऐसी घटनाओं को ही चित्रित करते है, जो इतिहास की दृष्टि से सच्ची और सामाजिक प्रासंगिकता से युक्त हो। डॉ. शिवकुमार मिश्र ने अपनी पुस्तक **'वृन्दावनलाल वर्मा : उपन्यास और कला'** मे इस प्रश्न पर विस्तार से विचार किया है :

> "आपने (वृन्दावनलाल वर्मा ने) अपने उपन्यासो मे रोमान्स और उपन्यास को मिला दिया, फलत: जिस सौन्दर्यमय वातावरण की सृष्टि हुई, **वह अद्वितीय है। 'रोमान्स' के सम्बन्ध में कही गयी अधिकांश बातें**

आपके उपन्यासो मे नही लागू होती। हाँ, उसके प्रमुख तत्वों की सत्ता उनमे पूर्णरूपेण विद्यमान है। उनके उपन्यासो मे वीरता है, शौर्य है, जीवन है और जीवन और मृत्यु के बीच किया गया प्रेम है, फिर भी उनके पात्रो मे इतनी सजीवता है कि वे हमे दूर की चीज नही जान पड़ते, हम चाहे तो उन्हे अपने आसपास देख सकते है। उनकी उपन्यास कला मे रोमान्स और यथार्थ का सुन्दर सम्मिश्रण है और तभी उनकी कृतियाँ रोमान्स होते हुए भी रोमान्सो से भिन्न है। वीरता, शौर्य, जीवन···वर्मा जी के उपन्यासो में यह सब कुछ है और इतना होने पर भी उनके उपन्यास 'हवाई' नही बन पाये। वे हमारे जीवन के सत्यो और तथ्यो से भी सम्बन्धित हैं। मृत्यु के मुख मे भी प्रेम का सगीत गाना, परिस्थितियो के संघर्ष मे भी प्रेम की अमरता स्थापित रखना, तोप और गोलो तथा तलवारो की झनझनाहट मे भी मिलन के स्वप्न देखना, भीषण से भीषण विपत्तियो मे भी प्रेम के उन्नत धरातल पर खड़े रहना, अन्याय का सक्रिय प्रतिरोध करना, जीवन की भाग-दौड़ मे भी कर्तव्यो की ओर प्रेरित रहना, यही वर्मा जी के उपन्यासो का रोमान्स है।'' आज के यथाकथित 'मनोवैज्ञानिक' उपन्यासो मे जिस रोमान्स का वर्णन होता है, उसमे केवल यौवन की उठती हुई आँधियों की चचलता है, उद्वेग है, रूप की प्यास है, कर्तव्यो और परिस्थितियो के सम्मुख झुक जाने की प्रेरणा है या फिर प्रेम भरे पत्रो का बाहुल्य है और वर्मा जी के उपन्यासो में यथार्थ सम्मिश्रण से जिस रोमान्स के दर्शन हमे होते है, उसमें स्थिरता है, विकास के बीज है, सघर्षो मे जूझ जाने की शक्ति है और साथ ही जीवन और युग के प्रवाह को मोड देने की क्षमता भी।''

वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासों मे कई प्रेमकथाएँ एक साथ चलती है। उनके सर्वप्रथम महत्त्वपूर्ण उपन्यास 'गढ़ कुण्डार' मे भी तीन प्रेमी युगल है हेमवती और नागदेव, मानवती और अग्निदत्त, और तारा और दिवाकर। 'झाँसी की रानी' मे तो चार है: सुन्दर और रघुनाथसिंह, जूही और ताँत्या टोपे, मोतीबाई और खुदाबख्श, तथा छोटी और नारायण शास्त्री। मगर उनका शायद ही कोई उपन्यास हो जो मन पर अपने इस पक्ष की छाप न छोड़ता हो। कारण, ये सभी प्रेमी अपने में एक-न-एक विशेष उद्देश्य लिये हुए होते थे और समय आने पर उसके लिए सर्वस्व अर्पित कर देते। यों, रोमान्सो से भिन्न, वर्मा जी के उपन्यासो में प्रेम केवल एक सहायक प्रसंग के रूप मे पिरोया हुआ होता है, जो आत्मोत्सर्ग की मूल भावना को ही एक अतिरिक्त आयाम देता है। वर्मा जी अपने चरित्रो को किसी अलौकिकता मे भी नही सजाते, सदा एक सीधे-सादे और सच्चे मानव प्राणी का ही रूप देते है।

उदाहरण के लिए मुन्दर और रघुनाथसिंह का ही यह प्रसंग लिया जाये, जहाँ दोनों अपने-अपने मोर्चे पर जाते समय अन्तिम विदा लेते है :

"मुन्दरबाई," रघुनाथसिंह ने कहा, "रानी साहब का साथ एक क्षण के लिए भी न छूटने पावे। वे आज अन्तिम युद्ध लड़ने जा रही हैं।"

"आप कहाँ रहेंगे ?"

"जहाँ उन की आज्ञा होगी। वैसे आप लोगों के समीप ही रहने का प्रयत्न करूँगा।"

"मै चाहती हूँ आप बिल्कुल निकट रहे। मुझे लगता है, मैं आज मारी जाऊँगी। आपके निकट होने से शान्ति मिलेगी।"...मुन्दर ने रघुनाथसिंह की ओर आँसू-भरी आँखों से देखा। कुछ कहने के लिए होंठ हिले।...मस्तक नवाकर मुन्दर ने रघुनाथसिंह को प्रणाम किया और उस ओट मे जल्दी से आँसू पोंछ डाले।

मुन्दर को गोली लगी। रघुनाथसिंह ने उसके शव को पीठ पर कसा और घोड़े पर सवार होकर आगे बढ़ गया।

प्रत्यक्ष ही मुन्दर के इस बलिदान की महत्ता और भी बढ़ जाती है जब पाठक देखता है कि उसने प्राणो से भी प्रिय अपने प्रेम तक को निछावर करने मे सकोच नही किया। वृन्दावनलाल वर्मा के चरित्रों में यह जैसे जन्मजात गुण रहता है कि अपनो के लिए और अपनी मातृभूमि के लिए मूल्यवान् से मूल्यवान् सुखनिधि की बलि दे दें। यह विशेषता उनके उपन्यासों को और भी सराहनीय बना देती है।

वर्मा जी के प्राय सभी कथानक इतिहास अथवा लोकगाथा पर आधारित रहते हैं। देखने की बात यह है कि मुख्य कथा के अन्तर्गत कई ऐसी उपकथाएँ भी वे गूँथ देते हैं, जो काल और समाजगत अवस्था को देखते हुए बिल्कुल सगत होती हैं। **'झाँसी की रानी'** की सरचना कितनी जटिल है। मुख्य कथा रानी को लेकर चलती है। मगर उसमे ताँत्या टोपे, खुदाबख्श, जूही, मोतीबाई, झलकारी दुलैया, नारायण शास्त्री तथा कई औरो की भी उपकथाएँ बुनी हुई है। प्रत्येक को ऐसी दक्षता के साथ, ताने मे ताना और बाने में बाना करके, घुला-मिला दिया है उन्होने कि मूल कथा का प्रभाव गुण कही से कही जा उठता है। कुछ उपन्यासो मे तो ऐसा भी हुआ है कि उपकथाएँ अधिक महत्त्वपूर्ण बन गयी। उदाहरण के लिए **'मृगनयनी'** में लाखी और अटल को देखा जा सकता है। यह प्रसग इतना सशक्त और रोमाचक बन पड़ा है कि एक बार को मृगनयनी और मानसिंह का प्रकरण तक दबा-दबा लगने लगता है।

इन उपकथाओं की एक अन्य विशेष भूमिका भी रहती है इनके माध्यम से

वह उस काल की सामाजिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि से अवगत करा देते है और उन समस्याओ को भी गोचर करा देते हैं, जो समान रूप से सभी की हैं। बहुधा उनकी यह प्रविधि जन-जीवन और उच्चवर्गीय जीवन की विषमताओ को ही आमने-सामने नही ला देती, बल्कि इस प्रकार तात्कालिक सामाजिक क्षय के रूप और कारणो को भी प्रत्यक्ष कर देती है। 'टूटे काँटे' मे जैसे रोनी और तोता का प्रसग परवर्ती मुगल, विशेषकर मुहम्मदशाह के शासन-काल मे चलते किसान वर्ग के अन्धाधुध शोषण और दिल्ली से लगी बस्तियो तक मे मची गुण्डागर्दी को एकबारगी उघाड़ देता है। नादिरशाह इस व्यवस्थाहीनता का लाभ उठाता है और दिल्ली को बुरी तरह लूट-खसोट लेता है और, गली-गली मे कत्ले-आम मचा डालता है। केवल उस महानगर की संस्कृति बची रह पाती है, जिसे वह विनष्ट नही कर सका। दिल्ली की नर्तकी नूरबाई की साध थी कि मुगल शहशाह के दरबार मे प्रवेश पा सके। वह नादिरशाह के ईरान ले चलने का आमन्त्रण ठुकरा देती है और एक सामान्य सैनिक मोहन के साथ रह-कर सहज मन से जीवन का वरण करती है। यो, नादिरशाह के शाही प्रश्रय को ठुकराकर एक साधारण जन के साथ साधारण स्त्री का कामकाजी जीवन अपना-कर नूरबाई अपने देश की संस्कृति के प्रति अनुराग ही प्रमाणित करती है। इस घटना की अर्थवत्ता और भी बढ़ उठती है जब सामने एक निरी पेशेवर नर्तकी हो।

वर्मा जी ने इस उपन्यास मे शुबराती नामक एक मुसलमान सैनिक का प्रसग भी जोड़ा है। यह मोहन का अतरंग मित्र बन जाता है। इस प्रकार लेखक ने दिखाया है कि मुस्लिम शाहंशाह पर मराठो के आक्रमण के चलते भी, मुगल काल मे हिन्दू और मुसलमान परस्पर कितने निकट थे। यही नही, इस तथ्य को रेखांकित करने के लिए वर्मा जी शुबराती को एक मराठा सेना से जुड़ा हुआ सैनिक भी दिखाते है।

वस्तुत. विषय वस्तुगत एकता को साधे हुए, विभिन्न समानधर्मा कथाओ को एक साथ निबाहे चलना सरल नही हुआ करता। इसके लिए कला-कुशाग्रता ही नहीं, दूरदृष्टि भी अपेक्षित रहती है और इस बात को नकारा नही जा सकता कि कई कथा-प्रसंगो को एक साथ चलाये बिना, जीवन का सुविस्तृत और गम्भीर परिदर्शन सफलतापूर्वक नहीं दिया जा सकता। वर्मा जी की इसी प्रविधि-गत कुशलता के लिए डॉ. रामविलास शर्मा उनके विशेष प्रशसक है। अपनी पुस्तक 'परम्परा के मूल्यांकन' मे वह कहते है

"वर्मा जी सामन्तवर्ग और जनसाधारण दोनो का चित्रण करते है, इसलिए उन्हे दो या सबसे अधिक पात्रों को अलग-अलग अपना केन्द्रबिन्दु बनाना पड़ता है। कथा के अनेक सूत्र बिखरे हुए और फिर भी एक-दूसरे

से जुड़े हुए चलते हैं। कुछ लोग इसे दोष समझते हैं। लेकिन कथा के अनेक सूत्र बिखेरना और फिर उन्हें समेटना आसान नहीं होता। कथा की एक-सूत्रता के लिए कुछ आलोचकों का हठ वैसा ही है जैसा एलिजाबेथ-युगीन अंग्रेज़ी नाटकों में समय और स्थान की पाबन्दी की माँग थी। कथानक की बहुसूत्रता से वर्मा जी उपन्यासों में वह वैविध्य, सरसता और चित्रण की विविधता ला सके हैं, जो तथाकथित सुगठित कथानकों में सम्भव न होती।"

वर्माजी के उपन्यासों में आयी उपकथाएँ कभी-कभी झटके जैसे खाते हुए चलती हैं। कारण यह कि उनका विकास ही घटनाओं और दुर्घटनाओं पर निर्भर रहा। **'विराटा की पद्मिनी'** में देवीसिंह की कल्पना तक न थी कि उसे राजसिंहासन मिलेगा। वह तो ब्याह करने जा ही रहा था कि अकस्मात् एक सशस्त्र मुठभेड़ होती है, जो उसे राजा नायकसिंह के समीप ला देती है, और फिर दरबारियों का षड्यन्त्र उसे सीधे राजसिंहासन पर ला बैठाता है।

वर्मा जी के पात्रों को कभी-कभी अप्रत्याशित स्थितियों का सामना करना पड़ता है। ऐसे में उन्हें अपनी ही चुस्ती और दिलेरी दिखानी होती है। भारत के लोग परम्परा से ही भाग्यवादी होते हैं। पर वर्मा जी के पात्र, पुरुष हों चाहे नारी, भिन्न मिलते हैं। न केवल प्रतिकूल परिस्थितियों से लोहा लेने को सदैव तत्पर बल्कि परीक्षा की घड़ी आने पर सर्वश्रेष्ठ मानवोचित गुणों के उदाहरण प्रस्तुत करने वाले। वर्मा जी के उपन्यासों में संयोगपूर्ण घटनाओं का उपयोग मिलता है—किन्तु न तो वे आरोपित होते हैं और, न दैवयोग से प्रतीत होते हैं। **'विराटा की पद्मिनी'** के उस मार्मिक दृश्य को ही लें, जहाँ "स्वयं देवी भगवती का अवतार" अपने करुण जीवन का अन्त करती है। देवी के सारे छद्म-भाव को त्याग कर कुमुद अपने कुंजर के गले में पुष्पमाला डालती है। कुंजर इससे प्रेरित होकर देवीसिंह और अली मर्दान से भिड़ जाता है। इन दोनों का उस समय आ जाना केवल घटना-संयोग था। कुंजर मारा जाता है और निरंकुश सामन्तों द्वारा सतायी गयी कुमुद बेतवा में कूदकर प्राणत्याग करती है। वर्मा जी ने इस दृश्य को इस प्रकार उकेरा है :

> "कुमुद शान्त गति से ढालू चट्टान के छोर पर पहुँच गयी। अपने विशाल नेत्रों की पलकों को उसने ऊपर की ओर उठाया। उंगली में पहनी हुई अँगूठी पर किरणें फिसल पड़ीं। दोनों हाथ जोड़कर उसने धीमे स्वर में गाया :
>
> 'मलिनियां फुलवा ल्याओ नन्दन वन के
> बीन-बीन फुलवा लगायी बड़ी रास
> उड़ गये फुलवा रह गयी बास।'

"उधर तान समाप्त हुई, इधर उस अथाह जलराशि में पैजनी का "छुम्म' से शब्द हुआ। धार ने अपने वक्ष को खोल दिया, और तान-समेत उस कोमल-कण्ठ को सावधानी से अपने कोश मे रख लिया।

'ठीक उसी समय वहाँ अली मर्दान भी आ गया। घुटना नवाकर उसने कुमुद के वस्त्र को पकड़ना चाहा, परन्तु बेतवा की लहर ने मानो उसे फटकार दिया। मुट्ठी बाँधे खड़ा रह गया।"

अली मर्दान का वहां पहुँचना संयोग मात्र है, पर निरा असम्भाव्य नही। उपन्यास के अन्त को इससे एक मर्मस्पर्शी प्रभावपूर्णता मिल जाती है। विडम्बना तो यह है कि देवीसिंह और अली मर्दान जो कुमुद के लिए एक-दूसरे के प्रतिद्वन्दी बने आये, वे ही अब हाथ मिला लेते हैं। इससे समूचा कथानक मुगलकालीन वीर-गाथाओ पर एक विद्रूप बन उठाता है, और जो वस्तुत: सामन्तो की सारी कामुकता और प्रजाजन के प्रति उपेक्षा को उघाड़कर रख देता है।

किन्तु वर्मा जी के उपन्यासो मे विन्यस्त घटनाएँ या दुर्घटनाएँ मात्र नही, जो पाठको को पकडे रखती है। उनके कथानकों का मानवी पक्ष ही उन्हे बाधे रखता है। दूसरे शब्दो में घटना नहीं बल्कि घटना के मूल में निहित जीवन मूल्य ही इनके आधार है। उदाहरण के लिए, 'टूटे काँटे' का वह दृश्य देखें, जहाँ आत्मरक्षा मे दरबार की नर्तकी नूरबाई, अपनी प्रेमी मोहन और उसके मित्र शुबराती के साथ बैलगाडी मे जा रही होती है। रास्ते मे उन्हे डाकू आ घेरते हे :

'दो आक्रमणकारियो ने मोहन को पकडकर नीचे घसीटकर लिया। उसके ऊपर तलवारे तुल गयी। घायल शुबराती की आँखें मिच गयी।

नूरबाई घूघट को बिलकुल उघाड़कर गाड़ी मे खडी हो गयी। चेहरा धूल और पसीने से लथपथ था। भँवरारे काले केशो मे धूल भरी हुई थी। होठ सूखे। आंखे लाल। ऊँचे कम्पित स्वर मे बोली, "ठहरो। गहना मेरे पास है", और तुरन्त उचटकर गाडी से नीचे कूद पड़ी। कूदने मे फटी हुई लग्गी और टूटे हुए खड़ेलुए में उसकी चुन्हरी अटककर फट गयी। उसका लहँगा उघडने को था, वह झुकी जिसके जोर से चुन्हरी और फटी। अपनी लज्जा के निवारण के लिए उसने चुन्हरी को बल के साथ झटका दिया तो वह लहगे भी चुन्नट से निकलकर अलग हो गयी। अब कमर के ऊपर उसके नगे शरीर को ढकने के लिए केवल एक चोली थी। जल्दी-जल्दी चलनेवाली साँस के साथ उसका उन्नत वक्ष उठ और गिर रहा था।

कठिनाई के साथ साँस को साधकर उसने कहा, "मेरी कमर मे बँधा है। अभी खोलकर फेंके देती हूं। मेरे मालिक को छोड़ दो ! उसके

पास कुछ नहीं है।

तलवारे आगे नही बढी। लाठियाँ जहाँ की तहाँ रह गयी।

नूरबाई घिघियाते-से स्वर मे बोली, "मै एक पेड़ की आड मे जाकर लहँगे को ढीला करके बसनी खोले देती हू।"

वे लोग एक-दूसरे का मुँह देखने लगे।

उनमे से एक, जो अगुआ मालूम होता था, कर्कश स्वर मे फिर कड़का," हूँ! वहाँ अकेले मे जाकर कुछ छिपाने को सोचती होगी! खोल यहीं, नही तो—"

मोहन ने तड़पकर उठने की चेष्टा की, परन्तु उसके ऊपर तुरन्त एक लाठी पडी। फिर उसकी छाती पर कई लातो का बोझ लगा। मोहन चीखकर सिटपिटाने लगा।

नूरबाई के काँपते हुए अग फड़क गये, जैसे किसी त्याग, बलिदान या तपस्या के लिए चचल हो गये हो। वह तन गयी, वक्ष और भी ऊँचा हो गया। गोरे-गोरे कमल जैसे हाथो को ऊँचा करके निष्कम्प ऊँचे पैने स्वर मे बोली : "क्या करते हो? मैं तुम्हारे सामने नगी, बिलकुल नगी हुई जाती हूँ। आखिर तुम्हारे भी तो मेरी ही जैसी माँ-बहिने होंगी!"

मोहन की छाती पर सधे हुए पैर धीमे पड़े।

नूरबाई ने पीठ फेर ली। एक क्षण मे उसने नाड़े को ढीला करके दाँतो से दबाया। नितम्बों के ऊपर बँधी हुई बसनी को खोला। उसकी नगी पीठवाला शरीर जान पडा मानो जैसे ताजमहल बनानेवाले कारीगर ने सगमरमर की अप्रतिम प्रतिमा को घडा-सँवारा हो। उसी स्थिति मे नेहुरकर नूरबाई ने गहने की बसनी की गाँठ खोली और एक हाथ-से निकालकर उन लोगों की दिशा में फेंक दी, और लहँगे को कसकर उनके सामने मुँह फेर लिया।

"पेड़ो की डोलती हुई पत्तियो मे होकर किरणे फूट-फूटकर उसके धूल-धूसरित चेहरे और बालो पर, तने हुए उरोजों पर, कसी हुई मुट्ठियो पर आ रही थी। उसने कड़े स्वर मे कहा. "उठा लो इसे और मेरे मालिक के पास से हट जाओ। उनको चोट आ गयी है।"

डाकू चले गये! नूरबाई, गाडीवान और शुबराती की मदद से मोहन को गाडी मे लायी। उसने मोहन का सिर अपनी गोद मे रखा और बड़ी उत्कण्ठा से पूछा : "कैसी है तबियत ?"

"बच गया" मोहन ने उत्तर दिया, "कन्धे मे बहुत दर्द है। तुमको तो नही कोई चोट आयी ?"

वह मोहन पर झुक गयी और हिलक उठी। कठिनाई के साथ

बोली, "भगवान् ने तुमको बचा लिया सो मैं भी बच गयी। चुपचाप पड़े रहो।"

मोहन बात न करे इस प्रयोजन से नूरबाई ने उसके होठों पर ऊँगलियाँ रख दी। फिर उसके माथे पर अपना मुँह छुलाती हुई बोली, "अब सो जाओ।"

मोहन ने कहा, "एक पल के लिए मेरी छाती पर अपना सिर रख लो।"

नूरबाई ने उसकी छाती पर अपना सिर रख दिया और हाथ धीरे से उसके कन्धे पर। मोहन ने एक हाथ उसकी पीठ से लेकर कमर तक फेरा। आश्चर्य के साथ बोला, "उघाडी हो! चून्हरी का क्या हुआ?"

"चली गयी।"

"कहाँ?"

"भगवान् के घर।"

"भगवान के घर! क्या मतलब?"

नूरबाई ने संक्षेप में डाकुओं के आगे बसनी के फेकने और गाडी की लग्गी मे फँसकर चून्हरी के फटने की कथा सुनायी।

मोहनलाल उसकी तरफ देखता रह गया। मुबकते हुए बोला "ओफ, तुम्हारा क्या से क्या हो गया!"

"मेरा तो सब कुछ बच गया। रोओगे तो जरूर मेरा कलेजा चूर हो जायेगा। जो कुछ वे लोग नही कर पाये वह तुम्हारे आँसू कर डालेंगे।"

"अब नही रोऊँगा मेरी—"

"जो कुछ कहना हो, मेरे कान मे!" नूरबाई उसके पास सिमट आयी।"

इस घटना की मृदुल ऊष्मा किसी भी पाठक के मन को छुएगी। इससे भी स्पष्ट हो उठता है कि कैसे मोहन और नूरबाई की सहचारिता महज तरल आन्तरिक प्रेम का रूप ले बैठी। पाठक को वर्मा जी इस उपन्यास मे री भावुकता के पुटों द्वारा नहीं, बल्कि प्रत्यक्ष घटना स्थितियो के सहारे धे हुए चलते है। कहा यहाँ तक जा सकता है कि उनके सभी कथानकों का म-बिन्दु ऐसा ही कोई मार्मिक प्रसग रहता है, जो पाठक के मानस-पटल अपनी अमिट छाप छोड़े। एक और सटीक उदाहरण [पिछले एक प्रकरण उद्धृत] 'गढ़ कुण्डार' में भी मिलता है, जहाँ एक प्रसविनी की प्राणरक्षा रने में अग्निदत्त अपने प्राण दे देता है।

लेखक में यह कला-पटुता वस्तुतः तभी आती है, जब उसे मानव प्रकृति का, आज की शब्दावली में कहें तो, मानव मनोविज्ञान का भरपूर ज्ञान-बोध हो। वर्मा जी ने अपने को सदा आदर्शवादी कहा, जबकि वास्तविकता यह रही कि उनका आदर्शवादी में आदर्शवादी पात्र भी, लोकोत्तर प्राणी न होकर, भले और बुरे का संयुक्त रूप ही होता है। यह अवश्य है कि सफल अन्ततः भला ही होता है, भले ही उसे बुरे से कितना भी संघर्ष, क्यों न करना पड़े। यह द्वैत और उसके साथ जुड़ा संघर्ष, दोनों ही 'गढ़ कुण्डार' के नायक नागदेव में समूर्त हुए मिलते हैं

"नाग की वह रात बड़ी कठिनाई से कटी। एक ओर सामन्त नाग, दूसरी ओर आहत नाग। एक ओर मनुष्य नाग, दूसरी ओर दर्पयुक्त नाग। एक ओर राजकुमार नाग, दूसरी ओर प्रणयोन्मत्त नाग। एक ओर वीर नाग, दूसरी ओर उद्धत नाग। एक ओर नाग देव, दूसरी ओर नाग राक्षस। देवता पर राक्षस विजय पा चुका था, और खंगारों का सूर्य अस्ताचल की ओर जा रहा था।"

'मृगनयनी' की निन्नी देहात के अपने सीधे-सादे जीवन से ऊबकर एकदम राजा मानसिंह के महलों में में पहुँचती है और रानी मृगनयनी बन जाती है। दसों दास-दासियाँ घेरे रहती है। उनकी लगातार मनुहारों से एक साँस भर पाने के लिए वह कह उठती है वह,

"अरे, तो क्या मैं थोड़ी देर के लिए भी अकेली न रह पाऊँगी ?"

बैठने के लिए कालीन, मसनद-तकिये, लेटने के लिए मखमली गद्दे का चाँदी की पत्तियों-जुड़ा पलँग। पर यह सभी उसे साँस घोटता-जैसा लगता है। और उसका खिन्न मन अपने सरल देहाती जीवन की याद में विकल हो जाता है,

"वह मचान, वह चाँदनी रात, जिसमें लहराते हुए अनाज के खेत जैसे किसी ललक के साथ बात करना चाहते हों, सांभर-चीतल की टोलियाँ, बगल में रखा हुआ धनुष-बाण, लाखी की ठठोली—क्या सब सदा के लिए हाथ से छुटक गये ? क्या मैं जा नहीं सकूँगी ? क्या यहीं बन्द होकर रहना पड़ेगा ? महाराज ने वचन दिया था कि परदे में नहीं रहोगी। वह निभायेंगे ? अवश्य निभायेंगे ! नहर की खुदाई का काम ही देखो, उन्होंने कितनी जल्दी आरम्भ करा दिया !"

पात्रों के मन में चलती क्रिया-प्रतिक्रियाओं को प्रकट कराने के लिए वर्मा जी ने एकालाप की युक्ति को प्रायः अपनाया है। राजमहल के राजसी वातावरण में पहुँचकर मृगनयनी में हीनभावना और संकोच का अनुभव होना स्वाभाविक था। गायन सभा में भी बड़ी रानियों को मुँह में आँचल ठूँस-ठूँस कर आपस

मे ठिठोलियाँ करते देख उसे यही लगता है कि वे शायद उसी पर हँस रही है।

> 'पर क्यो ? मैने ऐसा क्या किया ? पूरा शिष्टाचार किया था, फिर भी यह सब क्यों ? क्या मै इनसे कम सुन्दर हूँ ? या मैंने कोई गहना दिखावटी तरह पर पहन रखा है ? नही तो !...ऊँ, रानी हुई तो क्या ! है तो गँवारो से भी गयी-बीती ! अरे, मै इन्हे गँवार क्यों कहूँ ? गाँव की तो मैं हूँ ! हँसे जाओ, हँसे जाओ ! किसी दिन मैं तुमसे अधिक हँसूँगी तुमको भी हँसाऊँगी। शायद मेरे ऊपर न हँस रही हों। सगीत क किसी बात पर हँस रही हो।···मै ध्यान दिये होती तो क्या सगीत के दाँवपेंच समझ मे आ जाते ?···ऊँह, सगीत के दाँवपेच समझ मे आ जाते!···ऊँह, सगीत के दावपेंच सब के सब न समझ डाले, तो मेरा नाम पलट दिया जाये ! हाँ, चाहे जितना भी समय क्यो न लग जाये। तब मैं हँसा करूँगी और ये रानियाँ झेंपा करेंगी।''

वर्मा जी ने इस विधि से इस बात पर बल दिया है कि मूल मे मृगनयनी की वह जो हीनभावना थी, और जिसके छुए जाने पर उत्तेजित होकर उसने सगीत तथा अन्य कलाओं का ज्ञान प्राप्त किया और उन सभी रानियों से आगे निकल गयी।

वृन्दावनलाल वर्मा एकालाप को 'चेतना के प्रवाह' के रूप मे ग्रहण नही करते, जैसा कि कुछ आधुनिक लेखक करते है। वे उसे अपने पात्र के अन्तर्द्वन्द्व की अभिव्यक्ति-भर मानने है। यो भी, उनके सभी पात्र, सामाजिक उपन्यास तक के पात्र अतीत से जुड़े हुए है, और इसलिए स्वभावत. उनके सघर्ष आज के जैसे जटिल नही होते। वर्मा जी ने इस कारण, अपनी कृतियो में जितने भी पुरुष या नारी चरित्रो की सृष्टि की है, उनमे से किसी पर भी मानव चरित्र सम्बन्धी आधुनिक समझ-बूझों को आरोपित नही किया है।

सचमुच अपने पात्रो के विषय मे उन्होने स्वय बहुत कम कहा है। पात्रो को समझने के लिए उनके व्यवहार, एकालाप और संवादों को समझना होगा। और क्या यही तीनो तत्त्व मचधर्मी नाट्य रचनाओ का भी अनिवार्य अग नही रहते ? वर्मा जी ने अपने उपन्यासों में इनका प्रचुर प्रयोग किया है, और पाठक को अपने निष्कर्ष आप निकालने के लिए मुक्त रहने दिया है। तथापि पाठक के निष्कर्ष वही होगे, जो वर्मा जी भी चाहते रहे होगे। क्योंकि वे सवादो के शब्द-रूप के द्वारा बड़ी चतुराई से पाठक के मन को प्रभावित करते चलते है। इस सन्दर्भ मे '**कचनार**' के निम्न अश को देखा जा सकता है। सामन्त दलीपसिंह और [दहेज मे आयी रानी की दासी] कचनार के चरित्र का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष यहाँ उभरकर सामने आता है :

> हाथ का झटका खाने पर भी दलीप सिंह ने फिर उसको अपनी

ओर खींचने का प्रयास किया। दलीपसिंह असमर्थ रहा।

कचनार बोली, " ठहरिये, मेरी एक बात सुन लीजिये !"

दलीपसिंह ने वैसे ही उसका हाथ पकड़े हुए मुसकरा कर कहा, "कहो, क्या बात है। जो मांगोगी, दूँगा। मेरे पिता बहुमूल्य वस्त्रालंकारों के भण्डार छोड़ गये हैं। जिसकी इच्छा करो, दूँगा और देता रहूँगा।"

कचनार बोली, "मुझको वस्त्रालंकार कुछ नहीं चाहिए। मैं गोंड कन्या हूँ, वृक्षों की छाल से अपना शरीर ढँक सकती हूँ।"

"तब जो कुछ माँगोगी, वही दूँगा" दलीपसिंह ने आश्वासन दिया।

कचनार थोड़ा-सा मुसकरायी। दलीपसिंह ने ऐसी मुसकराहट नहीं देखी थी। प्रमत्त हो गया।

कचनार ने कहा, "बदल न जाइयेगा !"

उसके नेत्रों में तेज बढ़ा। उसने कहा, "मेरे साथ भाँवर डालिये मुझको अपनी पत्नी की प्रतिष्ठा दीजिए। अपनी जीवन-सहचरी बनाइये। वचन दीजिए। मैं आपके चरणों में अपना मस्तक रख दूँगी।"

"तुमने थोड़ी देर पहले अभी-अभी कहा था कि दासी हूँ।"

दासी तो हूँ ही। आपकी और दीदी की। अन्य सब सेवा करूँगी, परन्तु मैं ऐसा अगरखा नहीं बन सकती जो जब चाहा, उतारकर फेंक दिया।"

"यदि मैं जबरदस्ती करूँ ?"

"असम्भव है। आप मुझको तुरन्त मरा हुआ पायेंगे।"

खरे और दो टूक संवाद की ये कुछ पंक्तियाँ पाठक को तो प्रभावित करती ही हैं, दो व्यक्तियों के अपने-अपने चरित्र को भी इतना प्रत्यक्ष कर देती हैं कि कोई विस्तृत प्रवचन भी शायद भी कर सके। वैसे वर्मा जी के उपन्यासों में प्रवचनों का अभाव ही नहीं है विशेषकर सन्दर्भ जब स्वदेश और स्वराज का हो। इस दृष्टि से रानी लक्ष्मीबाई का वह भावोद्दीप्त वाग्धारा जो अप्रतिम है झाँसी पर अँग्रेजी शासन की डौंडी पिटने पर अपनी निकट मित्रों मुन्दर-सुन्दर और काशीबाई को आँसू बहाते हुए देखकर बरबस फूट पड़ती है। वह कहती है :

"ये आँसू बल का क्षय करेंगे। अभी तो अपने कार्य का प्रारम्भ भी नहीं हुआ है। सोचो, जब छत्रपति के उपरान्त शम्भू जी मारे गये, शाहू समाप्त, राजाराम गये, तब ताराबाई की गाँठ में क्या रह गया था ? इतने बड़े मुगल सम्राट को ताराबाई कैसे परास्त कर सकी ? उसने

स्वराज्य की बागडोर को कैसे बढ़ाया ? रो-रोकर ?…हमको जो कुछ करना है, उसकी दिशा निश्चित है। मार्ग मे विघ्न-बाधाएँ तो आती ही है। खरीते का स्वीकृति न होना केवल एक बाधा ही है। स्वीकृत भी हो जाता तो क्या हम लोग केवल सो जाने के लिए ही जीवित रहती ?…दादा बाजीराव पेशवा हतप्रभ होकर बिठूर चले आये। परन्तु हम लोगों को वे स्वराज्य की शिक्षा देने मे कभी नही चूके। यदि हिन्दुस्तान मे कोई भी उस पवित्र काम को अपने हाथ मे न ले, तो भी मैंने अपने कृष्ण के सामने अपनी आत्मा के भीतर उसका बीड़ा उठाया है। करूँगी और फिर करूँगी। चाहे मेरे पास खडे होने के लिए हाथ-भर भूमि ही क्यो न रह जाये। मान लो कि मै सफल न हो पायी, तो भी जिस स्वराज्यधारा को आगे बढा जाऊँगी, वह अक्षय रहेगी। उस महा-वाक्य को सदा याद रखो : हमको केवल कर्म करने का अधिकार है, फल का कभी नही। हमको एक बड़ा सन्तोष है। जनता हमारे साथ है। जनता सब कुछ है। जनता अमर है। इसको स्वराज्य के सूत्र मे बाँधना चाहिए। राजाओं को अंग्रेज भले ही मिटा दें, परन्तु जनता को नहीं मिटा सकते। एक दिन आवेगा जब इसी जनता के आगे होकर मैं स्व-राज्य की पताका फहराऊँगी।"

11

कहानी

वर्मा जी ने एक बड़ी सम्पदा कहानियों की भी छोड़ी है। इनकी संख्या डेढ़ सौ से ऊपर है। कितनी ही तो अभी अप्रकाशित है।

वास्तव में ये कहानियाँ जैसे उपन्यासों के लिए संजोयी हुई सामग्री में से जनमी हैं। कई बार तो समग्री जुटाते समय कोई ऐसा सशक्त चरित्र सामने आ जाता कि जब तक उस पर कहानी न लिख जाती, वर्मा जी बेचैन बने रहते। कहानी का लिखा जाना उस मानसिक तनाव से उन्हें विमुक्त कर देता, जो अन्यथा उपन्यास की प्रगति को बाधित रखता। कुछ कहानियाँ लिखी ही उस रूप में गयी क्योंकि उपन्यास पूरा हो जाने के बाद भी कोई-न-कोई चरित्र उन्हे निरन्तर घेरे रहता। उन्हे लगता रहता कि अमुक चरित्र के अमुक-अमुक आयाम को, उपन्यास में मिले निरूपण की अपेक्षा बेहतर ढग से चित्रित करने की आवश्यकता थी।

उदाहरण के लिए, जनरल इब्राहीम गारदी जैसा पात्र **'माधव जी सिन्धिया'** उपन्यास मे आया है। पर वही वर्मा जी को **'नैतिक स्तर'** और **'इब्राहीम गारदी'** जैसी कहानियाँ लिखने को भी विवश कर देता है। तभी तो उन मूल्यों पर बल देना सम्भव हुआ, जो उन्हे प्रिय थे। **'नैतिक स्तर'** मे मराठो के प्रतिरोध को कमजोर करने के लिए अब्दाली की बात गारदी ने नही मानी और लोगो करने धर्मविरोधी भावनाओं को उकसावा नही दिया। गारदी के शब्द है .

"जो मुसलमान अपने मुसलमान बिरादरों को दूसरे इनसान या मुल्क के साथ धोखा करने के लिए गुमराह करता है, वह मुसलमान कहलाने का हकदार नही है।"

दूसरी कहनी **'इब्राहीम गारदी'** मे अब्दाली हुक्म देता है कि गारदी को बोटी-बोटी काटकर बेरहमी के साथ मार डाला जाये। इतना तो उपन्यास में भी आता है। मगर गारदी की इस मार्मिक पुकार के कारण यह कहानी हमारे अन्तर को झिझोड़ देती है :

"हम हिन्दू-मुसलमानो की मिट्टी से ऐसे सूरमा पैदा होगे, जो वहशियो और जालिमो का नामो-निशान मिटा देंगे।"

मुगल दरबार और दरबारियो की कहानिया धार्मिक कट्टरपन और आपसी दलबन्दियो की मलामत करती हुई, इस बात पर जोर देती है कि सामाजिक समस्याओ को इनसानियत की नजर से देखा जाए। **'फ़िरोजशाह तुग़लक की सहानुभूति', 'गेहूँ के साथ भूसा,' 'उस प्रेम का पुरस्कार'** और **'लुटेरे का विवेक'** कहानियो मे क्रमश फीरोजशाह की दूरदर्शिता, अकबर की शहजादी के साथ गुलाम कादिर का कुण्ठित प्रेम, और पाटण मे जा बसे धनी व्यवसायी वसावुहीर को लूटने मे सुल्तान मुहम्मदशाह के इन्कार को दर्शाया गया है।

राजस्थान और गुजरात की इतिहास-कथाओं मे आयी कहानियाँ राजपूत नरेशो के शौर्य का बखान करती है। कुछ कहानिया कोरे गर्व या स्वभाव-गत मूर्खताओं को भी प्रकट करती है। ऐसी कहानियो मे अन्त किसी अनर्थ तक का रूप ले बैठता है। **'पहले कौन'** और **'खजाना किसका'** ऐसी ही दो कहानिया है, जो थोथी उदात्तता को ही सामने लाती है। **'पहले कौन'** मेवाड और जोधपुर की सीमा पर बने एक पुराने दुर्ग के घेरे की कहानी है। मेवाड को सफल होता देख दो बाँकुरे, रणवीर सिसोदिया और गजराज हाडा, आपस मे होड़ बद उठते है कि दुर्ग के द्वार पर पहले कौन पहुँचे। यह दिखते ही कि जीत हाडा की होगी, रणधीर अपना सिर आप ही काट फेकता है और इस प्रकार अपनी शूरता की छाप के साथ उक्त प्रसग की इति श्री करता है।

'खजाना किसका' मे एक सेठ जी मकान बेचते है। जिसने इसे खरीदा उसके हाथ, मरम्मत कराते हुए, सोने-चाँदी के सिक्को-भरा एक बड़ा-सा कलश लगता है। वह उसे सेठ जी को लौटाने की कोशिश करता है। सेठ जी यह कहकर नही लेते कि उन्होने पूरा मकान बेचा, इसलिए वहाँ जो भी मिला, उसी का है। इस समस्या का समाधान निकालते है वहाँ के राजा कि सेठ के बेटे से उसकी बेटी का व्याह करके कलश इन दोनो को दहेज में दे दिया जाये।

'झाँसी की रानी' उपन्यास के लिए खोजें करते समय वर्मा जी को ढेरो सामग्री हाथ लगी। बहुत कुछ कहानियो के रूप मे **'अम्बरपुर के अमर वीर'** मे आयी है। **'शीर्षक'** कहानी मे अम्बरपुर के उन 34 वीर बाँकुरो के प्रति सम्मान व्यक्त किया गया है, जिन्होने ब्रिटिश सेना के बीस हजार जवानो से अन्तिम साँस तक दुर्ग की रक्षा की। **'गुप्त सभा'** में पीरअली पुस्तक-विक्रेता द्वारा पटना मे आयोजित वहाबी उलेमा और काशी के पण्डितो की एक सभा का विवरण मिलता है। इसी सभा का निर्णय था कि क्रान्ति का सन्देश गुप्त भाव से **'रोटी और कमल'** के रूप मे हर कही भेजा जाये। पीरअली दण्डित

होकर हँसते-हँसते फाँसी चढ जाता है। कुछ कहानियों मे देशद्रोहियों के काण्ड खोले गये है। जैसे **'क़ायदे की बात'** मे एक हिन्दू महोदय अंग्रेजो से जागीर पाने के लालच मे 1857 की क्रान्ति के साथ धोखा करने पर उतारू हो जाते है। **'देशद्रोही का मुँह काला'** मे दो मुसलमान अंग्रेजो को बता देते है कि बहादुरशाह जफर लाल किले से सुरग की राह हुमायूँ के मकबरे से निकल भागा। इन्हे भी लालच जागीर का था। **'अँगूठी का दान'** शीर्षक सग्रह में नवाब अवध की पराक्रमी बेगम हजरत महल के अंग्रेजो से बहुत दिनो तक लोहा लेने की प्रेरणादायी कहानी आयी है। इस सग्रह को विशेषकर उन कई सुन्दर कहानियो के लिए स्मरण किया जाता है, जिनमे भ्रष्टाचार और अन्धविश्वासो की जमकर खिचाई की गयी है।

वर्मा जी की कुछेक कहानियाँ कलाकारो को केन्द्रित करके भी लिखी गयी है। **'कलाकार का दण्ड'**, **'खजुराहो की दो मूरतें'**, **'इन्द्र का अचूक हथियार'** और **'सौन्दर्य प्रतियोगिता'** मे कला और जीवन के परस्पर सबध की जाँच की गयी है। वर्मा जी की मान्यता थी कि कलाकृतियों में रहस्यात्मकता नही हुआ करती, वे केवल व्यक्ति की अभीप्साओं को मूर्त करने का एक रूप मात्र होती हैं।

'कलाकार का दण्ड' यूनानी और भारतीय मूर्तिकला के अन्तर को उद्घाटित करती है। यूनानी मूर्तिकार अन्ताक अपोलो की मूर्ति गढता है, और भारतीय मूर्तिकार शख विष्णु का प्रतिमा को छेनी से उकेरता है। यूनानी मूर्तिकला देह की मासपेशियों द्वारा हमारे सौन्दर्य-बोध को जाग्रत करती है : भारतीय प्रतिमागत नेत्रो का तेज और अधरों का स्मिति-भाव अमूर्त दिव्यता को उजागर करते है। दोनों ही कलाकार अपनी-अपनी कृति को श्रेष्ठ गिनते है। अन्ताक तो शंख की कृति को अपने पास रखने के लिए माँग ले जाता है। प्रतिमा पर मार्ग मे किसी प्रकार आघात पड़ता है। बताया जाता है कि प्रतिस्पर्द्धी प्रतिमाकार शंख पर क्रुद्ध होकर अपोलो ने स्वय ऐसा किया। दूसरी ओर शंख ने अन्ताक की प्रतिमा चुरा ली और यह घोषित किया कि विष्णु ने उक्त प्रतिमा को नष्ट कर अपनी क्षति का प्रतिशोध ले लिया। मामला न्यायालय पहुँचता है। अन्ताक विदेशी है, इसलिए न्याय उसके प्रति कठोर नही होता। उसे इतना ही दण्ड दिया जाता है कि वह एक वर्ष तक किसी भारतीय गुरुकुल मे शिक्षार्जन करे। शख को उतनी ही अवधि के लिए 'देशनिकाला' मिलता है : साथ ही उस तक्ष युवती से विच्छेद भी, जिसके प्रेम ने विष्णु प्रतिमा के अधरों पर विराजमान मुस्कान सजाने के लिए उसे प्रेरित किया था। इस दण्ड के पीछे न्यायालय की यही भावना रहती है कि प्रेयसी का वियोग कला को उत्कृष्टता प्रदान करने की प्रेरणा देगा।

एक व्यग्यकार के रूप मे श्री वर्मा जी ने अपने लेखन के प्रारम्भिक काल मे श्रीगणेश तो किया, पर फिर इस विधा को, जान पडता है यथोचित समय नहीं दे सके। उन्होंने इनी-गिनी कहानियाँ इसी रग की लिखी, जैसे : **'झकोला चारपाई'**, **'यही धन्धा मैं भी करता हूँ,'** **'नया रग-ढग'**, **'चोर बाजार क गंगोत्री,'** **'राजनीति की परिभाषा'** आदि। इनमें स्वप्न-द्रष्टा लेखकों पर, दोरगे आदर्शवादियो पर, काला बाजारियो पर और ढोगी राजनीतिज्ञो पर व्यंग्य किये गये हैं।

12
नाटक

वर्मा जी के नाटको का भी मूलाधार प्रायः वही है, जो उनकी कहानियो का। कम-अधिक ये भी उनकी उपजात रचनाएँ है। उदाहरण के लिए, **'झाँसी की रानी'** को उन्हें नाट्य-रूप देना पड़ा क्यों कि यह "अनेक प्रेमी पाठकों का आग्रह" था। उस पांच सौ पृष्ठ के उपन्यास को नाट्य-रूप देते हुए उन्होंने एक सौ पचीस पृष्ठो मे सक्षिप्त किया, फिर 1952 मे जब इसके मचन का प्रश्न उठा तब लम्बाई और दृश्य-सख्या मे और काट-छाँट करनी पड़ी। **'ललित विक्रम'** उनके **'भुवन विक्रम'** उपन्यास का नाटय-रूपान्तर है। इस प्रकार अन्य कोई नाटक किसी उपन्यास का रूपान्तर नही। हुआ है तो इतना ही कि उपन्यासों के लिए सँजोयी गयी सामग्री मे से जितनी बची रह गयी, उसका उपयोग नाटकों मे कर लिया गया। जैसे अलबरुनी की **'किताबुल हिन्द'** मे उन्हे कीमियागरी का उल्लेख मिला। सीधे-सादे लोग आज भी धूर्त साधु-महात्माओं के शिकार बनते पाये जाते हैं, जो उनके धन को दोगुना-तिगुना कर देने का भरोसा देकर उसे पूरा-पूरा ठग लेते है। वर्मा जी ने इन धूर्त साधुओ को उघाड़ने की दृष्टि से **'फूलों की बोली'** नामक नाटक लिखा। नाटक का यह नाम विशेष कारण से चुना। मध्ययुग के कीमियागर अपने 'शिकार' को इसके नाम से नहीं, बड़े विधि-विधान के साथ दिये गये किसी फूल के नाम से पुकारते थे। इस प्रकार वर्मा जी थे। इस प्रकार वर्मा जी ने उस अन्धविश्वास का पर्दाफाश तो किया ही, जिसके कारण कितने ही भोले-भाले लोग धूर्तों का शिकार बनते रहे है, एक स्थायी सन्देश भी समाज को दिया कि पैसा पसीने की कमाई होता है, कीमियागरी का तोहफा नही।

यहाँ एक बात विशेष उल्लेखनीय है कि जहाँ उपन्यासों में वर्मा जी ने अपनी प्रिय बुन्देलखण्ड की धरती को कही नही लाँघा, नाट्य कृतियों में ऐसा कोई बन्धन नही रखा। **'ललित विक्रम'** की पृष्ठभूमि मे उत्तर-वैदिक काल है तो **'झाँसी की रानी'** मे उन्नीसवी शताब्दी का संस्पर्श। **'पूर्व की ओर'** में बौद्ध धर्म

के माध्यम से ई पू तीसरी शताब्दी मे सम्पन्न पूर्व-एशियाई देशों तक भारतीय सस्कृति, धर्म और दर्शन की यात्रा का चित्रण किया गया है। 'हंस मयूर' पाठक जगत् को ईसोत्तर तीसरी शताब्दी मे ले जाता है और शैव और वैष्णव, अर्थात् हिंसा और प्रेमभाव के समर्थक सम्प्रदायो के सघर्ष से परिचित कराता है। **'फूलों की बोली'** मे आदि-मध्ययुग झाँकता मिलता है, तो **'बीरबल'** मे सोलहवी शताब्दी का मुगल काल। इस नाटक मे स्वभावत. सम्राट अकबर के जटिल चरित्र पर प्रकाश डाला गया है। **'जहाँदारशाह'** मे अपने पतन-भार से ढहे जाते मुगल सम्राटो के शासन का वर्णन किया गया है।

हिन्दी नाटककारो और उनमें भी विशेषकर जयशकर प्रसाद अतीतकालीन वातावरण निर्माण की दृष्टि से बडी ही सस्कृतनिष्ठ हिन्दी का प्रयोग करते आये है। वर्मा जी ने अपने को इस परिपाटी से विमुक्त रखा। उन्होने सरल से सरल भाषा का व्यवहार किया और जटिल से जटिल भावो को भी बोलचाल की भाषा देने मे सफल हुए।

वर्मा जी अपने समाज सम्बन्धी राजनीतिक नाटको मे एक आन्दोलनकारी सुधारक के रूप मे सामने आते हैं। वे व्यक्ति के सामाजिक स्वरूप की गहराइयों मे ही नही पैठते, उसके अवचेतन तक भी पहुँचते है। साथ ही, वे उसकी मनोवैज्ञानिक और सामाजिक समस्याओ मे भी एकात्मकता लाने का प्रयत्न करते है। उनकी मान्यता रही कि मनोवैज्ञानिक विरेचन हों चाहे विरूपण, दोनो ही सामाजिक परिस्थितियों का परिणाम होते हैं। सब मिलकर, ऐतिहासिक नाटको की तुलना में अपने इन नाटकों मे वर्मा जी कही अधिक सफल उतरे है।

'पीले हाथ' और **'केवट'** नाटको मे उन्होंने समाज सुधारकों से आग्रह किया है कि पहले अपना सुधार करे। **'पीले हाथ'** का समाज-सुधारक विवाह सम्बन्धो मे दहेज और देन-लेन की कुप्रथाओ का विरोध करता है, किन्तु अपने ही बेटे का विवाह-प्रसग आने पर घोर लालची प्रमाणित होता है। **'केवट'** मे आत्मपरायण राजनीतिज्ञो के प्रति वर्मा जी का आक्रोश व्यक्त हुआ है और उन नि:स्वार्थ कार्यकर्ताओ के प्रति सराहना का भाव, जो विनम्रतापूर्वक लोक-सेवा मे लगे होते हैं। **'बाँस की फाँस'** का विषय है : सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रो के प्रति आज के युवावर्ग का अनुत्तरदायी मनोभाव। नारी जाति के प्रति इनकी दुर्भावना को लेकर वर्मा जी ने अत्यन्त दु:ख प्रकट किया है और आग्रह किया है कि नारी को मात्र खिलवाड़ का साधन न मानकर बराबरी का दर्जा दे और उसकी भावनाओं को समादर दे। पूँजीपतियो और उनकी अर्थलिप्सा को आड़े हाथों लिया गया है **'सगुन'** मे। अपने उपन्यासो की नाई 'नाटको मे भी वर्मा जी ने धनिक वर्ग की भर्त्सना की है और उदात्त गुणो के लिए निम्नवर्गो की सराहना। **'निस्तार'** मे हरिजनों की समस्याओ को लिया गया है' मुख्यत.

मन्दिर-प्रवेश और कुएँ से जल लेने के प्रश्नो को।

'खिलौने की खोज' को वर्मा जी का एकमात्र मनोवैज्ञानिक नाटक माना जा सकता है। उन्होंने दिखाया है कि निजी निराशाओं और कुण्ठाओ के कारण उत्पन्न मानसिक विकारो का उपचार किया जा सकता है। रोगी को इसके लिए सामाजिक यथार्थ से परिचित कराना होगा और प्रेरित करना होगा कि औरो के लिए भी उसे जीना है।

वर्मा जी के बड़े नाटक चलचित्रो की पट-कथा के अधिक निकट हो आये है। कुछ तो लिखे ही उस दृष्टि से गये। मच के लिए बहुत सारे दृश्यों का होना व्यावहारिक कठिनाई पैदा करता है और दर्शको पर उसके प्रभाव को भी छितरा देता है। वे स्वय भी परामर्श दिया करते थे कि दृश्यों की सख्या मच की स्थिति और स्थति और उपलब्ध सुविधाओ को देखते हुए घटायी भी जा सकती है।

वर्मा जी के एकाकी, बडे नाटको की तुलना मे, अच्छे बन पडे है। उनकी वाक्चातुरी और व्यग्य दोनो ही यहाँ उभर उठे है। इसके अतिरिक्त उनका सुधारवादी उत्साह भी मुखर हुआ है। अधिकांश एकांकी सामयिक प्रसंगो से सम्बद्ध है। जैसे **'कश्मीर का काँटा'**। इसकी रचना 1947 मे हुए पाकिस्तानी आक्रमण को लेकर की गई। तीन अन्य एकांकी **'कनेर'** शीर्षक के अन्तर्गत सकलित है। इनमे से शीर्षक एकाकी में वर्मा जी ने पश्चिमी जगत की देन विज्ञान को समर्थन देते हुए, उसे स्थानीय परिस्थितियो के अनुरूप ढाल-कर अपनाने का परामर्श दिया है। **'टण्टागुरु'** मे मनोरथराम उर्फ टण्टागुरु की घोषणा होती है कि "मजदूर-किसानो को यदि शान्तिपूर्ण उपायों से सत्ता नही मिलती, तब उसे वे क्राति से मार्ग से प्राप्त करेंगे।" पर यह घोषणा एक खाते-पीते और दिन मे सपने देखनेवाले की कोरी बात भर साबित होती है। **'शासन का डण्डा'** मे देहातो में जमीदारो और उनके अनुचरो के आतंक एव अत्याचार दिखाये गये हैं। साथ ही, उस चाकर वर्ग की चातुरी और सूझ-बूझ को भी सराहा गया है, जिसे मालिकों की सेवा-टहल मे ही दिन काटने होते है। **'लो भाई पंचों लो'** मे गाँवो के बड़मैयों के भ्रष्टाचार और स्वार्थलोलुपताओ को नगा किया गया है, जो परम्परा और अन्धविश्वासो की आड मे गाँव वालो को धोखे पर धोखे दिया करते है। उन्हें नगा करता है एक पढ़ा-लिखा समझदार युवक, जिस पर चोरी का इलजाम लगाया गया है।

13

उपसंहार

वृन्दावनलाल वर्मा की सर्जनात्मक साहित्यिक कार्यशीलता जीवन के सुदीर्घ साठ वर्षों पर छायी रही। उनका अपना निर्माण प्रायः उसी काल मे हुआ, जब अंग्रेजी प्रभाव के वातावरण मे हिन्दी का कथा-साहित्य रूप से ले रहा था।

हिन्दी का पहला उपन्यास, लाला श्रीनिवास दास का 'परीक्षा गुरु' 1881 मे प्रकाशित हुआ था। उसकी भूमिका मे लेखक कहता है:

> "अब तक हमारी भाषा मे जितनी पुस्तके लिखी गयी हैं, सबमे राजा-महाराजा-राजकुमार और व्यवसायी-साहूकारो की ही कथा-कहानियाँ है। ये लोग अपनी एक रुचि-विशेष से ग्रसित रहते है, और परिणाम भी उसके भोगते है। इस पुस्तक मे वैसा कुछ नही है।···हमारी भाषा में यह एक नये ही प्रकार का उपन्यास है।"

लेखक ने इसमें मध्यवर्गों द्वारा पश्चिमी मूल्यो के अपनाये जाने की बढती हुई प्रवृत्ति को शोचनीय ठहराया है, और इस प्रवृत्ति को ही सारी अधोगति का मूल बताया है। उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम ढाई दशक मे प. बालकृष्ण भट्ट, राधाकृष्ण दास, अयोध्यासिंह उपाध्याय और लज्जाराम शास्त्री ने सामाजिक उपन्यासो के क्षेत्र मे पथ-निर्माण के कार्य को आगे बढाया। गोपालराम गहमरी ने जासूसी उपन्यासो का लेखन प्रारम्भ किया और देवकीनन्दन खत्री तो इनका एक नया रूप-संस्कार ही सामने ले आये। खत्री जी के जासूसी उपन्यासों मे रहस्य और ऐय्यारी दोनो का मिश्रण रहता था। इनके प्रमुख ऐय्यार अपनी आवश्यकता के अनुसार किसी भी व्यक्ति का रूप धारण कर लेते और जटिल से जटिल रहस्य भी उनके आगे नही टिकते। कहा जाता है कि हजारों लोगो ने हिन्दी भाषा तक इसलिए सीखी कि खत्री जी का चौबीस खण्डो मे प्रकाशित उपन्यास 'चन्द्रकान्ता सन्तति' पढ सकें!

ऐतिहासिक उपन्यासों का प्रारम्भ पण्डित किशोरलाल गोस्वामी,

उपन्यासों में देखा जा सकता है। इनका पहला उपन्यास **'त्रिवेणी'** 1888 मे प्रकाशित हुआ था। किन्तु इनका कोई भी उपन्यास इतिहास के गम्भीर अध्ययन पर उतना आधारित नही है जितना दन्तकथाओं, लोक-मान्यताओ और कल्पनाओ पर। अपने प्रतिष्ठित उपन्यास **'तारा'** की भूमिका मे उन्होने माना भी है : "अपने उपन्यासो मे मैने ऐतिहासिक घटनाओं की अपेक्षा कल्पनाओ को अधिक मान दिया है। कही-कही तो इतिहास को दूर से ही विदा कर दिया है।···पाठकगण इन कृतियो को इतिहास न समझ बैठें, न ही इसमे उल्लिखित किसी घटना को किसी इतिहास-ग्रन्थ में खोजने की कोशिश करें।" गोस्वामी जी के कृतित्व को इसलिए ऐतिहासिक कथा-साहित्य के क्षेत्र मे मात्र टोहने-टटोलने का प्रयास मानना होगा।

यह था साहित्यिक दृश्य-पटल जब वृन्दावनलाल वर्मा सामने आये। हिन्दी के वे प्रथम उपन्यासकार थे, जो इस बात का आग्रह लेकर चले कि ऐतिहासिक उपन्यासो में घटनाओ के साथ-साथ तत्कालीन जीवन के स्वरूप—इन दोनो का प्रामाणिक चित्रण होना आवश्यक है। अत वे जिस काल विशेष का भी घटना-वृत्त हाथ मे लेते, उससे सम्बन्धित अद्यतन शोध-उपलब्धियो का आकलन करते तथा सक्रिय गवेषणापूर्ण दृष्टि से अपने विस्तृत नोट्स तैयार करते। कभी भूल-चूक होती भी तो प्रामाणिकता को लेकर नही, शैली या अभिव्यक्ति को ही लेकर ही। उनके परवर्ती उपन्यासो मे वर्णन-पक्ष अवश्य उतना सशक्त नहीं उतारा जितना पहले रहा करता, पर तब यहाँ ऐतिहासिक प्रामाणिकता का पक्ष और अधिक निखर आया है।

हिन्दी साहित्य का वह युग ऐसा था, जब हिन्दी लेखक भाषा को समृद्ध करने का विचार से संस्कृत का अधिकाधिक सहारा ले रहे थे। ऐसी स्थिति में यह सामान्य उपलब्धि की बात नहीं कि वर्मा जी ने लोक-भाषा को वरीयता दी और बुन्देलखण्डी बोलचाल और स्थानीय मुहावरो तक को अपनाया। इसके लिए उनके ही जैसे साहस की आवश्यकता थी, क्योंकि उसका सीधा अर्थ होता समकालीन साहित्य जगत् से विलग हो रहना। वर्मा जी को उसके लिए कभी कोई खेद नहीं हुआ। क्योकि छायावादी लेखको की तुलना मे पाठकवर्ग तो उत्तरोत्तर इनकी ओर ही बढ रहा था, और फिर प्रेमचन्द जी का जैसा बहुमूल्य संग-साथ भी बराबर था ही।

शायद एक बात यह भी रही जो इस जो इस शती के चौथे दशक मे प्रगतिवादी लेखक आन्दोलन से प्रभावित होकर, हिन्दी लेखक जन भापा को फिर आगे लाये और इस प्रकार हिन्दी का निजी स्वरूप प्राणवन्त और जीवन हो उठा। इतनी ही नही, नागार्जुन जैसे उपन्यासकारो ने अपनी भाषा को समृद्ध बनाने के लिए जनसमाज की बोली और मुहावरे तक ग्रहण किये। यह

सब देख-देखकर वर्मा जी का हर्षित होना और उनकी प्रगति की कामना करना स्वाभाविक था। पाँचवें दशक के उत्तरार्ध मे एक ओर नयी लेखन प्रवृत्ति आंच-लिकता, ने अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बनाया और उसकी प्रेरणा से कितने ही कहानी-उपन्यासकार, और कवि तक ठेठ देहाती जीवन मे पैठ चले और प्रामा-णिक शब्दचित्र प्रस्तुत कर सके।

आश्चर्य नही होना चाहिए कि उन दिनों कुछ समय के लिए वृन्दावनलाल वर्मा साहित्यिक परिदृश्य से कुछ उतरे-उतरे रहे। उनकी पूरी और वास्तविक महत्ता गुनी और मानी गयी आंचलिकता के आगत होने पर। और इसका श्रेय डॉ. रामविलास शर्मा और डॉ. शिवकुमार मिश्र जैसे उन आलोचको को जाता है, जो प्रगतिवादी लेखक आन्दोलन से सपृक्त थे।

वृन्दावनलाल वर्मा की तुलना अकसर टॉमस हार्डी और सर वॉल्टर स्कॉट से की जाती है। पर तीनो उपन्यासकारों को निकटता से देखने पर समानताओं के स्थान पर असमानताएँ ही अधिक उभरकर आती है। डॉ शिवकुमार मिश्र की धारणा ठीक ही है :

"बहुधा आलोचक वर्मा जी उपन्यासो को अधिकाशत: बुन्देलखण्ड तक ही सीमित देखकर उनकी तुलना अंग्रेजी के उपन्यासकार टॉमस हार्डी से करते है। मेरी समझ मे यह उपयुक्त नही है। हार्डी से वर्मा जी की तुलना केवल इसी बात पर आधारित है कि जहाँ वर्मा जी ने एक विशेष भू भाग से सम्बन्धित उपन्यास लिखे है वहाँ हार्डी ने भी, और उसने अपने इस भू भाग को 'वेसेक्स' कहकर पुकारा है, जो पूर्णत: कल्पित प्रदेश है। इस बात के अतिरिक्त हार्डी और वर्मा जी के उपन्यासो मे और कोई समानता नही है। 'वेसेक्स' के अतिरिक्त हार्डी के उपन्यासो मे आये अन्य स्थानो के नाम भी कल्पित है। वर्मा जी का भू भाग वेसेक्स से अधिक समृद्ध है और सबसे बडी बात तो यह कि वह कल्पना नही है। उनके उपन्यासों का स्थान-स्थान आज भी उसी प्रकार अपनी सत्ता की गवाही दे रहा है। हाँ, हार्डी ने कल्पित प्रदेश की रचना करने पर भी उस प्रदेश के रहनेवालों के जीवन का जो वर्णन किया है, वह कल्पना नही है।···हार्डी का कल्पित 'वेसेक्स' प्रदेश वास्तव में ऑक्सफ़ोर्ड विश्वविद्यालय के आसपास का प्रदेश है। वहाँ के ग्रामीण जीवन की सच्चाई के अतिरिक्त जैसा कहा जा चुका बाक़ी सब कुछ उसकी कल्पना है। उसकी कथा, उसके स्थान, उसके पात्र सब कल्पित हैं। वर्मा जी के पात्र, उनकी कहानियाँ, उनके स्थान, सब कुछ सत्य है।"

डॉ. रामविलास शर्मा की स्कॉट, बंकिमचन्द्र चटर्जी, वृन्दावनलाल वर्मा और प्रेमचन्द पर दी गयी टिप्पणी और भी संगत है :

स्कॉट ने जहाँ एक ओर स्कॉटलैण्ड के जनसाधारण के अनुपम चित्र

दिये हैं, वहाँ उसने सामन्ती वैभव के लुभावने चित्र भी दिये है। बंगाल मे बंकिमचन्द्र चटर्जी भी सामन्ती वैभव के चित्र आँकते हुए सामन्ती अत्याचारो की कहानी भूल गये है। वर्मा जी जिस युग के लेखक है, वह स्कॉट और बंकिम के युगो से भिन्न है। यह युग दो महायुद्धों के बीच का युग है जब भारत मे एक विराट् साम्राज्य-विरोधी आन्दोलन का प्रसार हुआ। इसी युग ने प्रेमचन्द को पैदा किया। प्रेमचन्द की चेतना और स्कॉट की चेतना मे जमीन आसमान का फर्क है। वर्मा जी की चेतना प्रेमचन्द के अधिक निकट है, स्कॉट के कम। इसके सिवा नारी के प्रति सहानुभूति और उसकी वीरता का चित्रण वर्मा जी की मौलिक विशेषताएँ हैं। उनकी कथाएँ इन्ही विशेषताओ के मूल पर पल्लवित हुई है। यह काम स्कॉट की प्रतिभा के बाहर का था। फिर लाखी या लक्ष्मीबाई जैसी स्त्रियों का होना कुछ हिन्दुस्तान की अपनी विशेषता भी है।"

बाद की पीढी के लेखको मे से कितने ही रचनाकार ऐतिहासिक उपन्यास-लेखन मे वर्मा जी से भी आगे बढ़ गये। जैसे राहुल सांकृत्यायन, भगवतशरण उपाध्याय, रांगेय राघव आदि। किन्तु एक ऐसे प्रदेश विशेष के उपन्यासकार के नाते, जिसकी अपनी ऐतिहासिक और सांस्कृतिक विशेषताएँ भी हो, वृन्दावन-लाल वर्मा ही सर्वोपरि ठहरते है।

परिशिष्ट 1

वृन्दावनलाल वर्मा : कृतियाँ

	शीर्षक	लेखन-वर्ष		प्रकाशन-वर्ष
1.	महात्मा बुद्ध का जीवनचरित (जीवनी)	1908		1908
2.	राखीबन्द भाई (कहानी)	1909	'सरस्वती,	1909
3.	राजपूत की तलवार (कहानी)	1909	'सरस्वती'	1909
4.	सफ़राजिस्ट की पत्नी (कहानी)	1910	'सरस्वती'	1910
5.	हृदय की हिलोर (गद्यगीत)	1920-26		1928
6.	गढ़ कुण्डार (ऐतिहासिक उपन्यास)	1927		1928
7.	लगन (सामाजिक उपन्यास)	1927		1928
8.	संगम (सामाजिक उपन्यास)	1927		1929
9.	प्रत्यागत (सामाजिक उपन्यास)	1927		1929
10.	कुण्डली चक्र (सामाजिक उपन्यास)	1928		1929
11.	प्रेम की भेंट (सामाजिक उपन्यास)	1928		1931
12.	विराटा की पद्मिनी (ऐतिहासिक उपन्यास)	1933		1936
13.	धीरे-धीरे (नाटक)	1937		1937
14.	मुसाहिबजू (ऐतिहासिक उपन्यास)	1940		1946
15.	कभी-न-कभी (सामाजिक उपन्यास)	1942-43		1949
16.	झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई (ऐतिहासिक उपन्यास)	1946		1946
17.	कचनार (ऐतिहासिक उपन्यास)	1946		1948
18.	मंगल सूत्र (सामाजिक नाटक)	1946		1952
19.	राखी की लाज (सामाजिक नाटक)	1946		1946
20.	दबे पाँव (शिकार के अनुभव)	1946		1957
21.	सगुन (एकाकी)	1946		1950

22.	जहाँदारशाह (ऐतिहासिक नाटक)	1947	1952
23.	अचल मेरा कोई (सामाजिक उपन्यास)	1947	1948
24.	फूलों की बोली (सामाजिक उपन्यास)	1947	1948
25.	बाँस की फाँस (सामाजिक नाटक)	1947	1947
26.	कश्मीर का काँटा (राजनैतिक नाटक)	1947	1947
27.	हंस मयूर (ऐतिहासिक नाटक)	1947	1948
28.	झाँसी की रानी (ऐतिहासिक नाटक)	1947	1952
29	लो भई पंचों लो (सामाजिक एकांकी)	1947	1947
30.	माधवजी सिन्धिया (ऐतिहासिक उपन्यास)	1948	1957
31.	बीरबल (ऐतिहासिक नाटक)	1948	1951
32.	खिलौने की खोज (सामाजिक नाटक)	1948	1951
33.	सोती आग (ऐतिहासिक उपन्यास)	1948	1967
34.	टूटे काँटे (ऐतिहासिक उपन्यास)	1949	1954
35.	मृगनयनी (ऐतिहासिक उपन्यास)	1950	1950
36.	सोना (लोककथाओं पर आधारित उपन्यास)	1950	1951
37	पूर्व की ओर (ऐतिहासिक नाटक)	1950	1950
38	कलाकार का दण्ड (कहानी)	—	1950
39.	शरणागत (कहानी)	—	1950
40.	बुन्देलखण्ड के लोकगीत (लोकगीत)	1950	1958
41	कनेर (सामाजिक नाटक)	1951	1952
42	पीले हाथ (सामाजिक उपन्यास)	1951	1952
43	नीलकण्ठ (सामाजिक नाटक)	1951	1951
44	केवट (सामाजिक नाटक)	1951	1952
45.	अमरबेल (किसानों की सहकारी संस्थाओं पर उपन्यास)	1952	1952
46.	ललित विक्रम (ऐतिहासिक नाटक)	1953	1953
47.	तोशी (कहानी)	—	1954
48.	विस्तार (सामाजिक नाटक)	1954	1955
49.	भुवन विक्रम (ऐतिहासिक उपन्यास)	1955	1957
50	अहिल्याबाई (ऐतिहासिक उपन्यास)	1955	1955
51.	देखा-देखी (सामाजिक नाटक)	1955	1956
52.	अँगूठी का दान (कहानी)	—	1957
53.	मेंढक का ब्याह (कहानी)	—	1957

54.	ऐतिहासिक कहानियाँ		1957
55.	1857 के अमर वीर (रेखाचित्र)	1957	1957
56.	आहत (सामाजिक उपन्यास)	1960	1960
57.	उदयकिरण (सामाजिक उपन्यास)	1960	1960
58.	रश्मि समूह (कहानी)		1960
59.	रामगढ़ की रानी (ऐतिहासिक उपन्यास)	1961	1961
60.	महारानी दुर्गावती (ऐतिहासिक उपन्यास)	1961	1964
61.	युद्ध के मोर्चे से (शूरवीरों के जीवनचरित)	1963	1963
62.	कीचड और कमल (ऐतिहासिक उपन्यास)	1963	1975
63.	तीन एकाकी	1963	1963
64.	चले चलो (सहकारी आन्दोलन पर नाटक)	1965	1975
65.	भारत यह है (रिपोर्ताज)	1967	1967
66.	देवगढ़ की मुस्कान (ऐतिहासिक उपन्यास)	1967	1975
67.	अपनी कहानी (आत्म जीवनी)	1969	1972
68	गौरव गाथाएं (कहानी)	—	1975
69.	एक दूसरे के लिए हम (कहानी)	—	1975
70.	सरदार राने खाँ (कहानी)	—	1975
71.	राष्ट्रीय ध्वज की आन (कहानी)	—	1975

अप्रकाशित

1.	कब तक (उपन्यास)	1947
2	अब क्या हो (ऐतिहासिक उपन्यास)	1965
3.	अमर ज्योति (सामाजिक उपन्यास)	1966
4.	ललितादित्य (ऐतिहासिक उपन्यास)	1966
5.	कहानियाँ	—

परिशिष्ट 2

वृन्दावनलाल वर्मा : सन्दर्भ ग्रन्थ

1. कमलेश, डॉ. पद्मसिंह शर्मा, 'वृन्दावनलाल वर्मा : व्यक्तित्व और कृतित्व' —बंसल एण्ड कम्पनी, दिल्ली, 1958
2. मिश्र, डॉ. शिवकुमार, 'वृन्दावनलाल वर्मा उपन्यास और कला'—साहित्य निकेतन, कानपुर, 1954
3. प्रसाद, डॉ सियारामशरण, 'वृन्दावनलाल वर्मा : साहित्य और समीक्षा' —साहित्य प्रकाशन, दिल्ली, 1960
4. सिंघल, डॉ शशीभूषण, 'उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा'—विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, 1960
5. वाजपेयी, प्रकाश, 'हिन्दी के आंचलिक उपन्यास'—नन्दकिशोर एण्ड सन्स, वाराणसी, 1964

इस पुस्तकमाला के सम्बन्ध में

भारतीय साहित्य के इतिहास के निर्माण की दीर्घ यात्रा मे जिन महान् प्राचीन अथवा अर्वाचीन प्रतिभाओ ने महत्त्वपूर्ण योग दिया है, उनका परिचय सामान्य पाठको तक पहुंचाने के उद्देश्य से **'भारतीय साहित्य के निर्माता'** नामक पुस्तकमाला का प्रकाशन आरम्भ किया गया था, जिसके अन्तर्गत अब तक हिन्दी मे निम्नांकित पुस्तके प्रकाशित हो चुकी है :

लक्ष्मीनाथ बेजबरुआ	हेम बरुआ
बंकिमचन्द्र चटर्जी	सुबोधचन्द्र सेनगुप्त
बुद्धदेव बसु	अलोकरंजन दासगुप्त
चण्डीदास	सुकुमार सेन
ईश्वरचन्द्र विद्यासागर	हिरण्मय बनर्जी
जीवनानन्द दास	चिदानन्द दासगुप्त
काजी नजरुल इस्लाम	गोपाल हाल्दार
महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर	नारायण चौधुरी
माणिक बन्द्योपाध्याय	सरोजमोहन मित्र
माईकेल मधुसूदन दत्त	अमलेन्दु बोस
प्रमथ चौधुरी	अरुणकुमार मुखोपाध्याय
राजा राममोहनराय	सौम्येन्द्रनाथ टैगोर
ताराशंकर बन्द्योपाध्याय	महाश्वेता देवी
सरोजिनी नायडू	पद्मिनी सेनगुप्त
तरुदत्त	पद्मिनी सेनगुप्त
गोवर्धनराम	रमणलाल जोशी
मेघाणी	वसन्तराव जटाशंकर त्रिवेदी
नानालाल	उमेदभाई मणियार
नर्मदाशंकर	गुलाबदास ब्रोकर
भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	मदन गोपाल
बिहारी	बच्चन सिंह
चंद्रधर शर्मा गुलेरी	मस्तराम कपूर
देवकीनन्दन खत्री	मधुरेश
घनानन्द	लल्लन राय
जयशंकर प्रसाद	रमेशचन्द्र शाह

जायसी	परमानन्द श्रीवास्तव
महावीरप्रसाद द्विवेदी	नन्दकिशोर नवल
नन्ददुलारे वाजपेयी	प्रेमशंकर
प्रेमचन्द	प्रकाशचन्द्र गुप्त
राहुल सांकृत्यायन	प्रभाकर माचवे
रैदास	धर्मपाल मैनी
श्यामसुन्दरदास	सुधाकर पाण्डेय
सुभद्रा कुमारी चौहान	सुधा चौहान
वृन्दावनलाल वर्मा	राजीव सक्सेना
बी एम. श्रीकंठय्य	ए एन मूर्तिराव
बसवेश्वर	एच. थिप्पेरुद्रस्वामी
विद्यापति	रमानाथ झा
ए. आर. राजराज वर्मा	के. एम जॉर्ज
चन्दु मेनन	टी. सी. शकर मेनन
कुमारन् आशान	के एम जॉर्ज
महाकवि उल्लूर	सुकुमार अषिकोड
वल्लत्तोल	बी हृदयकुमारी
दत्तकवि	अनुराधा पोतदार
ज्ञानदेव	पुरुषोत्तम यशवन्त देशपाण्डे
हरिनारायण आपटे	रामचन्द्र भिकाजी जोशी
केशवसुत	प्रभाकर माचवे
नामदेव	माधव गोपाल देशमुख
नरसिंह चिंतामण केलकर	रामचन्द्र माधव गोले
श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर	मनोहर लक्ष्मण वराडपांडे
तुकाराम	भालचन्द्र नेमाड़े
फ़कीरमोहन सेनापति	मायाधर मानसिंह
राधानाथ राय	गोपीनाथ महन्ती
सरलादास	कृष्णचन्द्र पाणिग्राही
भाई वीर सिंह	हरबंस सिंह
दुरसा आढ़ा	रावत सारस्वत
प्रिथीराज राठौड़	रावत सारस्वत
बारहठ ईसरदास	हीरालाल माहेश्वरी
जाम्भोजी	हीरालाल माहेश्वरी
मुँहता नैणसी	बृजमोहन जावलिया

सूर्यमल्ल मिश्रण	विष्णुदत्त शर्मा
बाणभट्ट	के. कृष्णमूर्ति
भवभूति	गो के भट
जयदेव	सुनीतिकुमार चटर्जी
कल्हण	सोमनाथ धर
क्षेमेन्द्र	ब्रजमोहन चतुर्वेदी
माघ कवि	चण्डिकाप्रसाद शुक्ल
सचल सरमस्त	कल्याण बू आडवाणी
शाह लतीफ़	कल्याण बू. आडवाणी
भारती	प्रेमा नन्दकुमार
इलंगो अडिगल	मु वरदराजन
कम्बन	एम महाराजन
माणिक्कवाचकर	जी वन्मीकनाथन
पोतन्ना	दिवाकर्ल वेंकटावधानी
वेदम वेंकटराय शास्त्री	वेदम वेंकटराय शास्त्री (कनिष्ठ)
गुरजाड	नार्ल वेंकटेश्वर राव
वीरेशलिंगम्	नार्ल वेंकटेश्वर राव
वेमना	नार्ल वेंकटेश्वर राव
ग़ालिब	मु मुजीब

बृन्दावनलाल वर्मा (1889-1969) हिन्दी के विशिष्ट साहित्यकार थे। एक कहानीकार और नाटककार होने के पहले वे एक ऐसे ऐतिहासिक उपन्यासकार भी थे, जिन्होने इस क्षेत्र मे महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। वे हिन्दी के संभवत: पहले ऐसे लेखक थे, जिनकी स्पष्ट धारणा थी कि किसी भी कथा-विन्यास मे जीवन के साथ-साथ इतिहासगत घटनाओ का मेल ही उसकी विश्वसनीयता की पहली शर्त हो सकती है।

वर्मा जी ने लोकभाषा के लेखन को माध्यम के रूप में अपनाकर बुन्देलखण्डी बोली और मुहावरों का प्रभावी उपयोग किया। हिन्दी कथा-साहित्य में आंचलिकता को देर से प्रतिष्ठा मिली जबकि इस क्षेत्र मे भी वर्मा जी ने बुन्देलखण्ड को अपनी कथाभूमि के रूप में स्वीकार करके और उसमे अचल विशेष के इतिहास, सांस्कृतिक वैभव और लोक-जीवन को समाहित करके और भी जीवत कर दिया था। वर्मा जी के तीस से भी अधिक उपन्यास, बीसेक नाटक तथा दस कहानी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। कुछ रचनाएं अप्रकाशित भी है। अपने ऐतिहासिक उपन्यासो के कारण ही उन्हें सर्वाधिक ख्याति मिली।

उनके विशिष्ट अवदान के लिए आगरा विश्वविद्यालय ने वर्मा जी को 1958 में डी. लिट्. की मानद उपाधि से विभूषित किया था। 1965 मे वे राष्ट्रपति द्वारा 'पद्मविभूषण' से अलंकृत किये गये।

प्रस्तुत विनिबंध में हिन्दी के सुपरिचित साहित्यकार श्री राजीव सक्सेना ने वर्मा जी के व्यक्तित्व और कृतित्व पक्ष का समुचित मूल्यांकन किया है।

चार रुपये